

सहजानंद शास्त्रमाला

समयसार प्रवचन त्रयोदशतम भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक 'समयसार प्रवचन त्रयोदशतम भाग' अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। इसमें समयसार गाथा 307 से 327 तक के प्रवचनों का संकलन है।

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरुतर कार्य किया गया है।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को <http://www.sahjanandvarnishashtra.org/> वेबसाइट पर रखा गया है।

इस कार्य को सम्पादित करने में श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ के टंकण कार्य में श्रीमती प्रीति जैन, इन्दौर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

[Email - vikasnd@gmail.com](mailto:vikasnd@gmail.com)

www.jainkosh.org

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज द्वारा रचित

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आत्मराम॥टेक॥

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।

अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।

किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान॥

सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूप दुःख की खान।

निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।

राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।

दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम॥

अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

में दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ॥टेक॥

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन०, मैं सहजानंद०॥१॥

हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर मैं मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन०, मैं सहजा०॥२॥

आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन०, मैं सहजा०॥३॥

समयसार प्रवचन त्रयोदशतम भाग

[प्रवक्ता--अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री क्षुल्लक
मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द"]

इस समयसार ग्रन्थ में प्रायोजनिक तत्त्व का और हितरूप उपदेश का वर्णन करके अब अंतिम अधिकार में सर्वविशुद्ध ज्ञान की प्रतिष्ठा करते हैं। यह अधिकार मोक्षमार्ग में प्रवेश करने वालों के लिए एकमात्र आलम्बन स्वरूप हैं। इसका आश्रय कल्याण करता है जीव का।

जीव की कल्याणरूपता—परमार्थतः जीव स्वयं कल्याणमय है। कल्याण के लिए कल्याण के बाधकों को हटाने भर का ही काम है। कल्याण उत्पन्न नहीं करना है। कल्याणमूर्ति तो यह स्वयं है। अब उसकी दृष्टि न होने से जो विडम्बना हो रही है, मात्र दृष्टि करने से वह विडम्बना समाप्त है। इस जीव के साथ कोई परतत्त्व अवश्य लगा हुआ है जिसका निमित्त पाकर यह जीव विडरूप बना, क्योंकि कोई भी विडम्बना पर के सम्बंध बिना नहीं होती। वह परतत्त्व है कर्म। जीव के एकक्षेत्र में कर्म आते हैं। कर्म आकर वे पुण्य और पाप दोनों रूप बनते हैं। कर्मों से बन्धन होता है। जब तक यह जीव अपने को पर का कर्ता मानता है तब तक यह बँधता है। जब इसे अपने अकर्तृत्वस्वरूप का बोध होता है तो यह बंधन मिट जाता है।

छुटकारा—भैया ! यहीं देख लो। जब तक किसी परपदार्थ के करने का विकल्प है तब तक बंधन है और किसी भी कारण यदि करने का विकल्प मिट गया तो बंधन मिट गया। यदि ज्ञान के कारण करने का विकल्प मिटा दिया तो सविधि और मूल से बंधन मिटता है। और किसी लड़ाई विवाद के कारण किसी संस्थानक ये धर्मायतन के, या घर के ही किसी काम के करने का विकल्प मिटा दें तो मूल से शांति नहीं होती क्योंकि उसमें करने का विकल्प किया। जब यह जीव पर का अपने को अकर्तारूप में देखता है और रागादिक विभावों का भी मैं स्वरसतः कर्ता नहीं हूँ, इस पद्धति से अपने को देखता है तब उसके संवर तत्त्व प्रकट होता है। कर्मों का आना रुक जाता है और बँधे हुए कर्मों की निर्जरा होती है। निर्जरा होती हुई चूँकि छुटकारे की बात हुई ना। अतः कभी पूर्ण छुटकारा हो जाता है। उस पूर्ण छुटकारे की बात मोक्षाधिकार में बतायी गई है।

सर्वविशुद्धता का एक दृष्टान्त—अब यहाँ सब बातें बतला कर भी जो ज्ञान की दृष्टि का विषय है, जो अपने आप में परमार्थस्वरूप है, जो स्वरूप निर्दोष होकर मोक्ष का वेष धारण करता है, अब

उस सर्व विशुद्ध निज स्वरूप की चर्चा की जा रही है। जैसे एक अंगुलि के बारे में आपसे पूछें कि तुम बिल्कुल सच तो बतावो, फिर बदलना नहीं, एक बार बतावो सो बता ही दो। यह अंगुलि कैसी है ? क्या आप यह कहेंगे कि यह अंगुलि सीधी है ? देखो यह कहां रही सीधी ? तुम अब कहोगे कि टेढ़ी हो गयी। जो वास्तव में अंगुलि है, जिसको आप बदले नहीं, वैसी अंगुली को बतलावो। अंगुलि मोटी है यह भी सत्य नहीं है, पतली है यह भी सत्य नहीं है, बड़ी है यह भी सत्य नहीं है, छोटी है यह भी सत्य नहीं है। फिर वास्तव में अंगुलि कैसी है ? तो आप कहेंगे कि एक ऐसे मीटर का नाम अंगुलि है जो कभी टेढ़ी हो, कभी सीधी हो, कभी छोटी हो, कभी बड़ी हो अथवा सब परिणतियों में व्यापक रहने वाला जो कोई यह मीटर है वह है वास्तव में अंगुलि। निज सर्वविशुद्धता—इसी प्रकार अपने जीव के बारे में पूछें कि मैं जीव कैसा हूँ ? तो कोई कहेगा कि मनुष्य है। मैं मनुष्य हूँ, यह बात सच है क्या ? झूठ है। यह मनुष्य आयु खत्म हुई फिर मैं मनुष्य कहां रहा ? मैं मनुष्य नहीं हूँ। मैं आश्रवरूप हूँ, रागादिकरूप हूँ, यह भी ठीक नहीं है। बंधरूप हूँ यह भी ठीक नहीं। संवर हूँ यह भी ठीक नहीं। निर्जरा हूँ यह भी ठीक नहीं। अजी मैं मोक्षरूप तो हूँ। इससे बढ़कर और क्या चीज है ? कैसा है उत्कृष्ट रूप ? कहते हैं कि तू मोक्षरूप भी नहीं है। इन ५ तत्वों में रहकर किसी भी रूप नहीं है। इसमें व्यापक जो एक चैतन्यस्वरूप है वह तू है। इस सर्व विशुद्ध ज्ञान का ही यह अधिकार चल रहा है।

आत्मतत्त्व की विकल्पातीतता—मैं करने वाला हूँ ? नहीं। भोगने वाला हूँ ? नहीं। राग करने वाला हूँ ? नहीं। कर्मों से लिपटा हुआ हूँ ? नहीं। कर्मों से छूटा हुआ हूँ ? नहीं। ये सब विकल्प हैं। मैं तो जो हूँ सो हूँ। बंधन, जैसे एक हल्की बात है इसी तरह मोक्ष भी व्यापक ध्रुव ज्ञायक स्वरूप की वर्णना में एक हल्की बात हैं। किसी से कह तो दो, देख तो लो कहकर कि तुम्हारा बाप जेल से मुक्त हो गया है। ऐसा कहने पर देखो फिर लड़ाई होती है कि नहीं ? अरे भाई मुक्त ही तो कहा है। मुक्त होना तो अच्छी चीज है। देखो भगवान् मुक्त हो गए हैं—तो तुम्हारा बाप भी कैद से मुक्त हो गया है। इतनी बात सुनकर क्या वह अच्छा अनुभव करेगा ? अरे वह तो लड़ेगा। इसका कारण यह है कि कैद से मुक्त हो गया है इस बात में गाली भरी हुई है कि कैद में था पहिले, अब मुक्त हुआ है। तो आत्मा का जब परमार्थ और सत्य वर्णन करने बैठते हैं और उस समय कहें कि आत्मा कर्मों से मुक्त है तो यह तो आत्मा के स्वरूप की गिरावट कर दी अथवा आत्मा के स्वरूप की दृष्टि ही नहीं रखी।

विशुद्ध पदार्थ के स्वरूपावगम के लिये अंगुली का दृष्टांत—एक यह अनामिका अंगुली है। यह अंगुली देखो इस छोटी अंगुली के सामने बड़ी दिखती है, किंतु अंगुली को बड़ा कहना यह अंगुली

का खास स्वरूप नहीं है। यह तो आपकी बुद्धि का उद्गम है, जो आप बड़ा कहते हैं, पर बड़ा होना क्या यह अंगुली का स्वरूप है और कभी इस अंगुली के सामने यह बड़ी अंगुली कर दें तो आप कहोगे कि यह अंगुली छोटी है। तो क्या अंगुली का छोटा अंगुलि का स्वरूप है। नहीं, जैसे रूप, रस, गंध, स्पर्श, ये अंगुली के स्वरूप हैं इस तरह छोटा बड़ा तो नहीं ना ? पर पदार्थों की दृष्टि करके जो बात समझ में आए वह स्वरूप नहीं कहलाता है। किंतु उस एक ही पदार्थ को नजर में लाकर फिर जो तुम्हें समझ में आए ऐसा समझो।

स्वरसनिर्भरता—यह मकान फलाने साहब का है, क्या यह बात सत्य है ? नहीं सत्य है, क्योंकि यह परापेक्ष बना है और यह मकान जीर्ण है, टूटा फूटा है, यह है मकान का स्वरूप, क्योंकि मकान को देखकर ही मकान की यह बात कही जाती है। परमार्थ से तो परमाणु-परद्रव्य है। मकान भी वस्तु नहीं है, इसी तरह आत्मा का स्वरूप क्या है ? अपने आप को पहिचानों तो मैं क्या हूँ ? मैं रागी नहीं, द्वेषी नहीं, मुक्त नहीं, क्रोधी नहीं, कषायवान नहीं, कषायरहित नहीं, मैं कषायसहित नहीं, मैं अच्छा नहीं, मैं बुरा नहीं। मैं जो हूँ सो हूँ, किंतु यदि तुम जबरदस्ती कहलवाना चाहते हो कि समझ में नहीं आया, इतनी बात तो तुम बतावो। तो यह कहूँगा कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ।

विशुद्ध पदार्थ की अनिर्वचनीयता—मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, ऐसा कहने में भी स्वरूप की गिरावट की है तुमने। शब्दों द्वारा वह कहने में नहीं आ सकता क्योंकि मैं तो ऐसा अनिर्वचनीय विलक्षण स्वरूप हूँ कि जो किसी शब्द द्वारा कहा ही न जा सके। यदि मैं अपने को ज्ञानरूप कह देता हूँ तो समझ में तो यह भी आ रहा है कि इससे भी बढ़कर इसका दर्शन स्वरूप है। तो ज्ञानस्वरूप कहने में दर्शन तो छूट गया। कहो चेतनास्वरूप है, उसमें ज्ञान भी आया, दर्शन भी आया, तो चेतनास्वरूप ही यह कहने में आनंद तो छूट गया। मैं आनन्दस्वरूप भी हूँ। आपके पास कोई शब्द ऐसे नहीं हैं जो आत्मा का पूरा स्वरूप बता सकें ?इसलिए न वह अवस्थावों से लिप्त है, न शब्दों से लिप्त है, वह तो जो है सो ही है। ऐसे ही सर्व विशुद्ध ज्ञान का अब यहां प्रवेश होता है।

महात्मत्व-भैया ! अध्यात्मग्रन्थ का यह बहुत महत्वशाली वर्णन चल रहा है। कहां दृष्टि देना, किसे अपना मानना-यह बड़े महत्व का निर्णय है व जिस पर भविष्य निर्भर है-ऐसा खासा प्रश्न है। ये व्यापार, धन और वैभव तो अत्यंत तुच्छ बातें हैं, खूब रहें तो क्या, कम रहें तो क्या, थोड़ा धन रहे तो क्या, बड़ा धन आये तो क्या ? वे तो सब परवस्तु हैं। उससे बढ़कर न कोई राजा है, न कोई धनी है। जिसे अपना सही पता हो गया और जो इस सम्यग्ज्ञान के कारण

समग्र परवस्तुवों से विश्राम पाकर अपने में मग्न हो गया, उसकी तुलना किससे कर सकें ? ये राजा, महाराजा, बड़े लोग, धनी लोग-सब दुःखी हैं। होना ही चाहिए। जिसने दुःखरहित शुद्ध निजस्वरूप का भान नहीं किया है, वे कहां संतोष पायेंगे ? मैं कर्ता हूँ, भोक्ता हूँ, मैं कर्मबंध करने वाला हूँ, मैं कर्मों को हराने वाला हूँ, आदिक सर्वभावों को प्रलीन करने यह सर्व विशुद्ध ज्ञानस्वरूप उपयोगाभ्यास में प्रकट हुआ है। किसी भी समय यदि सबसे न्यारे अपने केवल चैतन्यस्वरूप को देख लें तो उसकी मुक्ति नियम से होगी।

सकिंचनमन्यता की क्लेशरूपता—भैया ! घर परिवार सारभूत तो है नहीं, बल्कि उसके विकल्प में अपने आपका ज्ञानबल घट जाता है और कर्म बंधन किया जाता है। फिर भी मान लो कि सम्बंध हो गया है तो कहां छोड़ा जाय ? पर २४ घंटे तो अपने उपयोग में असार चीज को न धरते रहो। किसी समय अपने को अकेला अकिंचन भाररहित निज ज्ञानमात्र तो झलक में लो। अपने स्वरूप को अपने उपयोग में लिए बिना न धर्म होगा, न शांति होगी, न मोक्षमार्ग मिलेगा। इस निजस्वरूप को देखो जो बंध के आशय से भी दूर है और फिर भी बंधमोक्ष समस्त हालत में रहने वाले हैं जो समस्त अवस्थावों का स्रोतरूप है-पर किसी भी अवस्थारूप स्वरूप नहीं है। ऐसे विशुद्ध निज चैतन्यस्वभाव की दृष्टि इस अधिकार में रखी जायगी।

औपाधिक भावों की समानता—भैया ! जितने भी हमारे काम हैं, सुख दुःख की अवस्था व मनुष्य पशु-पक्षी आदि अवस्थार्ये हैं और सभी कल्पनाओं में जितनी भी दशार्ये हैं ये उपाधि का सम्बंध पाकर हैं। वे सब क्लेश स्वभाव दृष्टि द्वारा दूर हो जाते हैं। उनका अनाकुलता स्वरूप नहीं है तो इस निगाह से हमारे ये सब शुभ और अशुभ भाव और ये कल्पनार्ये सब एक समान भिन्न हैं। एक बुढ़िया के तीन लड़के थे बड़ा, मझला व छोटा। बुढ़िया का छोटा बच्चा भी कम से कम १८, १९ साल का तो होगा ही। तो एक बनिया को भाव हुआ कि हमें एक ब्राह्मण को जिमाना है । सो उसने हिसाब लगाया कि हमारे गांव में ऐसा कौनसा ब्राह्मण है जो कम खाता हो। उसकी समझ में आया कि फलां बुढ़िया के तीन लड़के हैं, उनमें से सबसे छोटे लड़के को वह निमंत्रण देने गया। बोला, बुढ़िया मां आज तुम्हारे छोटे लड़के को हमारे यहां निमंत्रण है। तो बुढ़िया कहती है कि चाहे छोटे को निमंत्रित करो, चाहे बड़े को करो, चाहे मझले को करो, हमारे तो सब लड़के तिसेरिया हैं तीन सेर खाने वाले। सो इस संसार में चाहे धनी बनकर देख लो, चाहे इस देश में बड़े नेता प्रभावशाली बनकर देख लो, चाहे महामूर्ख बनकर देख लो, सब जीवों के जिनकी परपदार्थों पर दृष्टि है, सबके एक सी दुःखों की, क्लेशों की चक्की चल रही है।

पर से अशरणता—भैया ! किसी भी अन्य पदार्थ पर दृष्टि डालना शांति का कारण न होगा। मेरे

ही निजी पारिणामिक स्वभाव की दृष्टि शांति की साधकतम होगी। हम रागी भी होते हैं, कोई दूसरा नहीं होता, कर्म रागी नहीं होता, शरीर रागी नहीं होता, यह जीव ही रागी बनता है। किंतु रागी होना ध्रुव तत्त्व नहीं है, औपाधिक भाव है। तो रागी होने का मेरा स्वरूप नहीं रहा। मैं विचार भी करता हूँ और बड़ी बुद्धि की बात सोचता रहता हूँ, पर यह सोचना मेरा स्वरूप नहीं है। यह चतुराई भी मेरा स्वरूप नहीं है तो भला बतलावो जब यह स्वरूप परभाव है तो अब हम किसकी शरण जायें कि हमें परम शांति प्राप्त हो ? कहां सिर झुकायें ?

अपने प्रभु के अदर्शन से हैरानी—अरे भैया ! तेरा प्रभु तेरे ही अंतर में है। जरा गर्दन झुकाकर इन्द्रियों को संयत करो और अपने ज्ञानानंदघन स्वरूप का अनुभव कर लो कितनी सरल बात है और स्वाधीन बात है। यह तो जगत के जीवों को कठिन लग रहा है और परपदार्थों की बात जिस पर अधिकार नहीं है उनकी बोलचाल प्रेमसंचय ये सब चीजें सरल लग रही हैं। जिस पर रंच अधिकार नहीं, इसको पागलपन नहीं कहा जायेगा तो और क्या कहा जायेगा ? जहां सभी पागल हों वहां कौन कहे पागल ? कोई बिरला ही पुरुष सुधरे दिमाग का हो तो वह देख सकता है इस पागलपन को। ज्ञानानंदस्वरूप यह प्रभु अपने इस ज्ञानस्वरूप की दृष्टि न करके बाह्य पदार्थों में अनुराग बनाकर जो बाह्य की ओर दौड़ता रहता है, ऐसा पागलपन, मोह, मूढता मिटाने का उपाय केवल वस्तु-विज्ञान है। उस वस्तुविज्ञान के प्रकरण में इस अधिकार में निज सहज स्वरूप का वर्णन किया जा रहा है।

कारणपरमात्मतत्त्व—यह आत्मतत्त्व बंध मोक्ष की रचना से भी परे है और यह शुद्ध है, विशुद्ध है। कितना शुद्ध है ? धन वैभव आदि पर पदार्थों से शुद्ध है, याने न्यारा है। बँधे हुए कर्मों से न्यारा है, शरीर से न्यारा है रागादिक भावों से न्यारा है अपने शुद्ध अशुद्ध समस्त परिणमनों से भी न्यारे स्वरूप वाला है। ऐसा यह शुद्ध आत्मतत्त्व जिसके निज रस के विस्तार से भरी हुई पवित्र निश्चल ज्योति जिसमें विकसित हुई है, टंकोत्कीर्णवत् निश्चल है ऐसा ज्ञानपुंज अब इस अधिकार में स्फुरायमान् होगा। इस उद्यम में क्या किया जा रहा है खूब विचार लो। अंदर प्रवेश करके समस्त बाह्य विकल्पों को भूलकर अपने आपमें मग्नता की जा रही है जो समस्त सुखों का कारण है। सो यह सर्व विशुद्ध ज्ञान अब प्रकट होता है । भगवान बनता है कोई तो कुछ नई चीज नहीं बनता है। जैसे पाषाण की मूर्ति बनायी तो कारीगर ने कुछ काम नहीं किया। उस मूर्ति के आवरण करने वाले पत्थर दूर किये हैं, मूर्ति नहीं बनायी है। वह तो जो था सो ही निकल आया। इसी तरह जो मुझमें अभी है वहीं निकल आए उसी के मायने परमात्मा है। कोई परमात्मा नई चीज नहीं है, उसी तत्त्व का इसमें वर्णन है।

ज्ञानमय की ज्ञानद्वारा ग्राह्यता—आत्मा में ही जानने देखने की योग्यता है। इस आत्मा को जगत के प्राणी किस-किस रूप में ग्रहण करते हैं, उनका ग्रहण करना मोहरूप है। कोई अपने को मनुष्य मानता, कोई अपने को स्त्री मानता, कोई अपने को छोटा या बड़ा मानता, नाना तरह से अपने को मानते हैं किंतु परमार्थ से यह आत्मा एकस्वरूप है। उसका वह स्वरूप क्या है ? इसकी खोज में बड़े-बड़े संतों ने सकल संन्यास करके वन में रहकर साधनाएँ कीं। उस तत्त्व का इस अधिकार में वर्णन है। यह में आत्मा रूप, रस, गंध, स्पर्श, रूप तो हूँ नहीं। यदि होता तो पुद्गल की भांति इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण में आ सकता था। किंतु वह आत्मतत्त्व इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है। इसका ग्रहण ज्ञान द्वारा ज्ञानरूप में हुआ करता है।

ज्ञानस्वरूप के अपरिचय के दो कारण—भैया ! इस ज्ञानस्वरूप को न जानने देने के कारण दो हैं—एक तो पर्याय बुद्धि और दूसरे पर में कर्तृत्व बुद्धि। इन दो एबों ने इस प्राणी को परेशान कर रखा है। यह है परेशान अपनी मिथ्या धारणा से और मानता है परेशानी दूसरे जीवों की परिणति से। पर्याय बुद्धि का अर्थ यह है कि है तो यह सनातन सहज ज्ञान स्वरूप और मानता है यह जिस पर्याय में गया उस पर्याय रूप। यह आत्मा पुरुष नहीं हैं, किंतु पर्याय बुद्धि में यह जीव अपने में पुरुषपने का अहंकार रखता है। यह जीव स्त्री नहीं है किंतु पर्याय बुद्धि में यह जीव अपने को स्त्री मानने में अहंकार रखता है। यह तो शरीर से न्यारा मात्र ज्ञानस्वरूप है सो इसे अपने स्वरूपमात्र न मानकर अन्य-अन्य पर्यायों रूप मानना, यह इसका प्रथम महाअपराध है। दूसरा अपराध है पर का अपने को कर्ता मानना। मैंने गृहस्थी चलाया, मकान बनाया, दुकान चलाया, धन कमाया, देश में नाम किया, नाना प्रकार की कर्तृत्व बुद्धि रखना इस जीव का दूसरा महान अपराध है।

आत्मा के अपरिचय का तृतीय कारण—आत्मा के अपरिचय का कारण भूत तीसरा अपराध है कि अपने को पर का भोगने वाला माना। मैं धन भोगता हूँ, मैं आराम भोगता हूँ, इज्जत भोगता हूँ, विषयों को भोगता हूँ। सो भोगने की मान्यता की-यह है तीसरा अपराध। बस इन तीन अपराधों में फंसा हुआ यह प्राणी किंकर्तव्यविमूढ होकर जगत् में भटक रहा है।

जीव का अकर्तृत्व स्वभाव—इस जीव का कर्तापन स्वभाव नहीं है। जैसे कि जीव का भोक्तापन स्वभाव नहीं है। किंतु यह अज्ञान से ही कर्ता बन रहा है और जिस दिन विवेक जगेगा उस दिन कर्ता न रहेगा। जब कोई काम करते-करते भी सिद्धि नहीं होती है तब यह यों सोचकर रह जाता है कि होना न था ऐसा और अपने भावों के अनुसार कोई काम हो जाय तो उसमें यह नहीं सोचता कि ऐसा ही होना था सो हो गया है। इसमें मेरा कोई कर्तव्य नहीं है। ऐसे कर्तव्य का

अभिमान भरा है और इस अभिमान के पीछे विवाद होता है, दुर्वचन बोले जाते हैं और अनेक आपत्तियाँ भोगी जाती हैं।

परसमागम की परोदयकारणता का एक दृष्टांत—एक बार किसी ने एक दानी नवाब साहब से पूछा कि तुम कितना तो दान देते हो, किंतु अपनी निगाह दान देते समय नीची कर लेते हो। पूछता है मनुष्य-‘सीखी कहां नवाब जो ऐसी देनीदेन, ज्यों-ज्यों कर ऊँचा करत त्यों-त्यों नीचे नैन।।’ तुमने ऐसा दान करना कहां सीखा है कि ज्यों-ज्यों अधिक दान करते जाते हो त्यों-त्यों तुम्हारे नेत्र नीचे होते जाते हैं। वह नवाब उत्तर देता है-“देने वाला और है देत रहत दिन रैन, लोगों को भ्रम है मेरा तासो नीचे नैन।। ” मैं नहीं देता हूँ। देने वाला और है पुण्य कर्म, वह देता रहता है। उससे यह दान व्यवस्था चलती रहती है लोगों की यह भ्रम है कि मैं यह देता हूँ। सो मैं इस शर्म के मारे गड़कर अपने नेत्र नीचे रखता हूँ।

अधुव समागम का सदुपयोग—भैया इस जगत में जिसे जो समागम मिला है वह सदा न रह सकेगा । वह तो मिटेगा ही। अब यह मर्जी है कि उसको किस तरह मिटायें ? धन की तीन गतियाँ होती हैं—दान, भोग और नाश। दान कर लो, भोग भोग लो और ये दोनों न कर सके तो उसका नाश हो जायगा। तो यो सोच लीजिये कि तृतीय अवस्था तो जरूर होगी, अब किसी तरह हो, अपना विवेक है।

हथेली के किसी भी तरह रोम झड़ना—एक बार भरी सभा में वजीर से बादशाह ने पूछा कि वजीर ! यह तो बतलाओ कि इस मेरी हथेली में रोम क्यों नहीं हैं ? बड़े लोग ऐसे ही ऊटपटांग बातें पूछ देते हैं जिनके सुने में कोई तत्त्व नहीं नजर आता। किंतु वहां तत्त्व वाला उत्तर होना चाहिये। वजीर मेरे रोम क्यों नहीं हैं ? तो वजीर बोला कि तुमने इन हाथों से इतना दान दिया, तुम्हारे हाथ पर से इतना धन सरका कि धन सरकते-सरकते रोम झड़ गये। इसलिये तुम्हारी हथेली में रोम नहीं हैं, इसका बादशाह ने कहा कि वजीर तुम्हारे भी तो हथेली में रोम नहीं हैं, इसका क्या ? तो वजीर बोला कि महाराज, तुमने अपने हाथों से हमें इतना दान दिया कि लेते-लेते मेरी हथेली के रोम झड़ गये। और दरबार में इतने सब लोग बैठे हैं उनके क्यों नहीं हैं ? वजीर कहता है कि महाराज ! तुमने दिया, हमने लिया और बाकी लोग हाथ मलते रह गये। सो उनके हाथ मलते-मलते रोम झड़ गये। सो रोम तो झड़ेंगे ही, देकर झड़ें लेकर झड़ें मलकर झड़ें। यह धन, यह वैभव, यह समागम चेतन और अचेतन संग सब बिछुड़ेंगे। अब मर्जी तुम्हारी है कि इन सबका उपयोग धर्म कार्य में लगाओ और अपने इस अनित्य मिले हुये समागम से अविनाशी लाभ प्राप्त करो।

आत्मा का अकर्तृत्व स्वभाव—भैया! इस जीव का करने का स्वभाव नहीं है। यह अज्ञान में अपने को करने वाला मानता है। जो अपने को करने वाला मानेगा उसे पद पद पर दुःखी होना पड़ता है। अभी यहीं देख लो, किसी ने कुछ बड़ा काम कर दिया, मंदिर बना दिया या और काम कर दिया और वह अपने मुंह से यह कहे कि मैंने समाज के उपकार के लिये यह मंदिर बनाया है, तो फिर उसकी इज्जत लोक में नहीं रहती। इतना किया भी और अपने मुंह से अपने कर्तृत्व करने की बात कह देने से वह न किया सा हो गया। तो करने की बात अपने मुंह से कहने से भी जब इज्जत घटती है, शरम दिलाती है तो का अभिप्राय मन में हो तो वह कितनी बन्धन करायेगा ? यह रोग जगत के प्राणियों को लगा है और इससे वे बैचैन हो रहे हैं। मुझे करना है, यह काम पड़ा है, मैं ही करूँ तो होगा। अरे होना होगा तो तुम करो तो, न करो तो कोई निमित्त होगा तो होगा। और मानते हुये कुछ विकल्पों के अनुसार तो तुममें कौनसा लाभ लूट लिया हो गया तुम्हारे विकल्पों के अनुसार महल खड़ा या लाखों का धन जोड़ा तो इतने पर भी तुमने कौन सा लाभ लूट लिया? केवल विकल्प ही विकल्प किये जा रहे हैं।

आत्मा का अभोक्तृत्व स्वभाव—आत्मा का कर्तापन स्वभाव नहीं है ऐसे ही इसके भोगने का स्वभाव नहीं है। यह जीव किसी भी पर पदार्थ को नहीं भोग सकता, केवल अपना विकल्प बनाया करता है, ओर परमार्थ से अपने विकल्पों को भी नहीं भोगता। कार्यों की जोराबरी से विकल्प करने पड़ते हैं और दुःखी होना पड़ता है। और सामान्यतया यह जानो कि हम प्रायः सदा ही अपना ही सुख भोगा करते हैं, किंतु अज्ञानी कोई मान ले कि मैंने अमुक पदार्थ का सुख भोगा तो पराधीनता उसे लग जायगी। भोगना है सदा अपना ही सुख, पर मानता है कि मुझे अमुक से सुख मिला, तो उसकी परतंत्रता हो जायगी।

पर के भोगने के भ्रम का एक दृष्टांत - एक गांव में तीन भाई थे, सो आज जैसा ही समझ लो विकट समय आ गयी, और परिस्थिति भी बिगड़ गयी, निर्धन हो गये। खाने पीने का भी कुछ सिलसिला न रहा तो सोचा कि चलो मौसी के यहां चलें, १० - १२ दिन रहें, वहां अच्छी तरह से दिन कटेंगे। तो वे तीनों भाई गये मौसी के पास। मौसी कहो या मासी कहो एक बात है। जो मां सरीखी हो मौसी होती है। मां की जो बहिन है वह मां तुल्य है। सो गये मौसी के यहां। मेल मिलाप हुआ। मौसी बोली-बेटा क्या खावोगे ? वे कहते हैं- तो मौसीजी, जो तुम बनावोगी सो खायेंगे। तो मौसी ने कहा—अच्छा जावो तुम लोग नहावों धोवो, मंदिर जावो, पूजा, ध्यान, जाप

करलो, इतने में खाना तैयार मिलेगा। सो जैसी पुरानी पद्धति है कि तालाब में नहाने जायेंगे तो सब कपड़े उतार देंगे। एक धोती पहिनेंगे और एक धोती ले ली जायगी बदलने के लिये और नहा धोकर फिर सीधे मंदिर जायेंगे। सो गये वो। नहाने धोने में १॥ घंटा लग गया और मंदिर में १॥ घंटा लग गया। तीन घंटे में मौसी ने झट क्या किया कि इन तीनों भाईयों के कपड़े एक बनिये के यहां गिरवी रख दिये और ५० रुपये ले लिये। सब सामान खरीद लिया और झट हलुवा पूड़ी तैयार कर लिया।

अब वे मंदिर से सीधे आये। पहुंच गये खाने। खाते जायें हलुआ पूड़ी, खीर और आपस में बातें करते जायें। (हमारे समझ से हलुवा पूड़ी कुछ अच्छी चीज नहीं हैं। मगर जिनकी जीभ लगी है स्वाद में, उनके लिए यह चीज ठीक है) खैर खाते जायें और आपस में बातें करते जायें, देखो वह कितना बढ़िया भोजन मौसी ने बनाया ? और मौसी कहती जाये-बेटा खाते जाओ तुम्हारा ही तो माल है। अब वे तीनों भाई भी समझते कि खिलाने वाले तो यों कहते ही हैं। अभी तुमसे ही पूछें कि यह अमुक घर किसका है ? तो आप कहोगे कि आपका ही है और उसी समय लिखकर दस्तखत करा ले तो ? (हँसी) ऐसा ही समझा उन भाईयों ने। जब भोजन कर चुके और कपड़े पहिने गये तो कपड़े न मिले। कहा मौसी कपड़े कहां गये ? तो मौसी बोली बेटा ! हमने कहा था कि, खाते जाओ तुम्हारा ही तो माल है। सो इसका मतलब ? बनिये के यहां गिरवी रख दिये है। उससे ही सामान मोल लाकर बनाया और खिलाया हैं।

अपना ही आनंद भोगते हुए पर का भ्रम करने का फल—भैया ! अब जो जैसा बना, जो कुछ हुआ सो ठीक है, पर यहां यह बात विचारों कि जैसे वे भाई अपनी ही चीज तो खा रहे थे और भ्रम से मौसी का खा रहे हैं ऐसा जानकर मस्त हो रहे थे। सो पीछे दुःख उन्होंने ही भोगा ? इसी तरह जगत के सब जीव भोगते तो हैं अपना आनंद स्वरूप, क्योंकि जीव का ज्ञान की तरह आनन्द स्वरूप है। किंतु अज्ञानी मानता है कि मुझे भोजन से सुख हुआ, राग करने का सुख हुआ, लोगों ने प्रशंसा की, अभिनंदन पत्र दिया, स्वागत किया, इन लोगों ने बड़ा सुख दिया, इस तरह जो परपदार्थों से सुख होना मानते हैं और उस ही सुख में मस्त होते हैं उनको अन्त में बुरी हार खानी पड़ती है क्योंकि सदा प्रशंसा करने वाले मिलेंगे नहीं। किसी की दसों-प्रशंसा करते हैं तो उसकी २० निन्दा करने वाले भी होते हैं। तो निन्दा सुनकर वहां दुःख ही होगा। प्रशंसा की बात नहीं मिलती तो निन्दा में दुःख नहीं होता।

अज्ञान में व्यर्थ विसंवाद—जो परपदार्थों से अपना सुख मानते हैं वे दुःखी होते हैं। इस कारण अपना स्वरूप संभालिए। मैं स्वयं ज्ञानानन्दमय हूँ। जो जानन होता है वह भी मुझमें से प्रकट

होता है । बाहर से नहीं प्रकट होता है। किंतु जैसे कुत्ता कहीं से हड्डी को खूब खुतरेगा। सो हड्डी के खुतरने में उसके मुख में से खून निकल आता है, उस खून का उसे स्वाद आता है। सो खा तो रहा है वह अपना ही खून, किंतु मान रहा है कि यह खून इस हड्डी से निकल रहा है। दूसरा कुत्ता दिख जाय तो वह गुर्गाता है। कहीं मेरे आनन्द की चीज यह छुड़ा न ले। इसी तरह जगत् में यह विवाद उठ रहा है। भोग तो रहे हैं सब अपना ही आनन्द, पर कल्पना में यह आ गया कि मुझे तो इस धन से आनंद आ रहा है, इसमें मल से आनन्द आ रहा है। सो दूसरे लोग इसे न छुड़ा लें बल्कि दूसरों लोगों से हम छुड़ा लें, इस भाव से विवाद होता है, कलह होती है।

उत्कृष्ट आशय होने पर भी जघन्य परिणमन—भैया ! इस प्रसंग में आप यह प्रश्न कर सकते हैं तो फिर हम क्या करें-जायदाद न संभालें, उद्यम न करें, धन न कमायें ? भाई, ये सब बातें आपके विकल्पों से नहीं होती। ये तो पुण्योदय का और बाह्य समागमों का निमित्तनैमित्तिक योग होगा तो होता है। आपके विकल्पों से कमायी नहीं होती है। करते हुए भी यथार्थ श्रद्धा रखना है कि मैं इन सबका करने वाला नहीं हूँ, क्या ऐसा होता नहीं है कि जो कर रहे हों वैसा आशय न हो ? हम आपको दो चार दृष्टान्त दें तब आपकी समझ में आयेगा कि जो करते हैं सो ही भाव हो ऐसा नहीं है। भाव में ऊँची बात हो और करना पड़ता है नीची बात।

जघन्यपरिणमन में भी ज्ञान के सत् आशय के प्रदर्शक दृष्टान्त—देखो एक मोटासा दृष्टान्त ले लो। विवाह होने के बाद दसों बार लड़की ससुराल हो आई, बीसों बार हो आयी, ५० वर्ष के करीब हो गई, पर जब भी ससुराल जायेगी तो रो करके जायेगी और ऐसा रोवेगी कि सुनने वाले को दया आ जाय। पर उसके मन में दुःख है क्या ? खुशी-खुशी जा रही है और रो भी रही है, मन में आशय तो हर्ष का है। और कहो देर हो जाय, न लिवा ले जाय तो खबर पहुँचाती है अपने लड़कों को कि जल्दी आना सो लिवा ले जाना, पर जाते समय रोती जरूर है। तो भाव तो है हर्ष का और करतूत है रोने की। ऐसे ही ज्ञानी जीव के भाव तो रहता है ज्ञान का, अकर्तृत्व का कुछ कर ही नहीं सकता, ज्ञान करना, इतना ही हमारा पुरुषार्थ है, पर करना पड़ता है, मन, वचन, काय को लगाना पड़ रहा है, परंतु भावों की यथार्थ बात बसी हैं।

ज्ञानी गृहस्थ वृत्ति का दृष्टान्त—मुनीम लोग सेठ की दुकान पर लोगों से खूब बातें करते हैं, कोई खाता वाला आ जाय तो उसको मुनीम कहता है देखो जी हमसे तुम इतना ले गये, हमारा तुम पर इतना बाकी है, सब बातें मुनीमजी कर रहे हैं। क्या हू-बहू ये ही बातें सत्य हैं कि मुनीमजी को ही मिलना है, मुनीमजी का ही बाकी है ? वह कहता तो सब कुछ है, पर अंतर से उसे विश्वास बना है कि आना जाना मेरा कुछ नहीं है। यह तो सब सेठजी का है। तो इसी तरह

जानी गृहस्थ भी घर में रहकर सारी क्रियाएं करते हैं और अपना अपना बोलते भी हैं, पर यह व्यवहार की भाषा है। यों कहते हैं, पर आशय में बात यथार्थ बसी हुई है।

शांति यथार्थ विश्वास की अनुगामिनी—भैया ! जो जीव अपने को सबसे न्यारा समझ सकता है उसकी तो यहां विजय है और जो पर में घुलमिल कर रहना चाहता है उसको नियम से क्लेश हैं। ऐसा निर्णय करके विरक्त चित्त रहकर पर के प्रसंग में रहा करें। अपनी विवेक बुद्धि त्यागकर पर में आसक्त होने का फल आकुलता ही है। जहाँ रहते हैं ठीक है, जो आसानी से बन गया ठीक है। किंतु हठ का होना, आसक्ति का होना एक भी बात न मानना, इन सब अज्ञान की कल्पनावों से केवल क्लेश ही क्लेश रहेंगे। इसलिए एक निर्णय रखो कि जगत में मेरा एक तृण भी नहीं है, एक परमाणु भी नहीं है। गृहस्थी में रहकर सब करना पड़ता है पर विश्वास यथार्थ होगा तो शांति फिर भी साथ रहेगी और विश्वास भी गलत हो गया तो शांति साथ न रहेगी।

आत्मद्रव्य शुद्धता—जीव तो चेतना स्वरूप हैं, किंतु वर्तमान में कर्म उपाधि के सम्बंध वश संसारी पर्याय में चल रहा है। गतियों में जन्म लेता, मरता और दुःख भोगता है। इस जीव को जब संसारी पर्याय की अपेक्षा से देखें अथवा उसके अशुद्ध उपादान की दृष्टि से देखें तो जीव कर्ता है, भोक्ता है, उसके बंध भी हैं और उसी पर्याय, उसी अशुद्ध उपादान अभाव का मुकाबिला करके शुद्धपरिणति को देखें तो उसका मोक्ष भी है। सो संसारी पर्याय की दृष्टि से उसके कर देने आदि की कल्पनाएं हैं, ऐसा परिणमन है किंतु केवल जीव का स्वरूप देखें तो पारिणामिक परमभाव शुद्ध उपादानरूप से शुद्ध ही है। इन सब परिणामों से रहित है।

स्वरूपदृष्टि से सम्बन्धित एक दृष्टान्त—जैसे एक तोला भर कोई सोने की चीज लाये और उसमें दो आने तो खोट था और १४ आने ठीक स्वर्ण था। अब उसमें १४ आने स्वर्ण एक जगह धरा हो और दो आने खोट एक जगह रखा हो, ऐसा नहीं है। पूरा का पूरा तोला भर डेला में विस्तृत है। उस सोने को जब अशुद्ध उपादान दृष्टि से देखा तो उस सोने को निबल कहा जायेगा और ज्यादा खोटा अगर हुआ, मानो १२ आने सोना हो और चार आने खोट हो तो पारखी लोग उसे सोना ही नहीं कहते। कहते हैं कि यह सोना नहीं है, हटावो। यद्यपि वह सोना है मगर शुद्ध स्वर्ण पर उनकी दृष्टि है, इसलिए उस सोने को सोना नहीं कहा। जो शुद्ध स्वर्ण हो उसे वे सोना मानते हैं। तो उस स्वर्ण की एक तोला डली में जिसमें कि १२ आने सोना है और चार आने खोट है, उसमें भी मल पर दृष्टि न दें और केवल स्वर्ण पर दृष्टि दें तो वहां भी यह दिखता है कि इसमें १२ आने पक्का सोना है। जब भाव किया जाता है तो उस समस्त पिण्ड पर दृष्टि होने से उसे एक

तोला मानकर और उसका भाव कम बोला जाता है कि भाई ११० रू तोला देंगे। और जब मल की अपेक्षा नहीं रखते और उस तोले भर में बोलते हैं कि इसमें १२ आने स्वर्ण है सो उस १२ आने स्वर्ण के आप १४० रू. तोला के दाम ले सकते हैं। तो दृष्टि की ही तो बात है।

आत्मतत्त्व का सामान्यदृष्टि से परिचय—इसी तरह यह जीव संसारी पर्याय में रागी है, कर्ता है, भोक्ता है, बंधा हुआ है, छूटा हुआ है, सारी बातें इसमें अशुद्ध हो रही हैं, पर इस अशुद्ध होते हुए जीव में केवल जीव का स्वभाव विचारों जैसा यह जीव दिख जाय तो वह जीव प्रभु की ही तरह शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। जैसे उस तोला भर सोने में केवल स्वर्ण की ही दृष्टि की जाय तो जितना स्वर्ण जाना है उतना ही पूरा पक्का सही है। इसी प्रकार इस जीव स्वरूप में जो जीव जानता है चेतनमात्र ज्ञानस्वरूप, सो उसमें क्या अंतर है ? अंतर तो होता है बाहरी परिस्थितियों से। कोई प्रीतिभोज करे तो उस पंगत में जैसे मानो जैन समाज का प्रीतिभोज है, तो चाहे रईस हो, चाहे गरीब हो, जैनत्व दृष्टि से सब एक सामान्यरूप हैं। अब उसमें कोई परोसने वाला पक्ष करे कि धनियों को जरा ज्यादा ध्यान दे और गरीबों को यों ही छोड़ता जाय तो यह परोसने वाले की बेईमानी हुई है तो अब उसके विशेष पर दृष्टि पहुंची है तब आकुलता होती है। जब सामान्य पर दृष्टि रहती है तब आकुलता नहीं रहती है।

अज्ञान चेष्टा की एक विडम्बना-एक पंगत में परोसने वाला आदमी अपनी छोटी अंगुलि में ६-७ हजार के हीरे की जड़ित मुदरी पहिने हुये था। व्यवस्था कर रहा था, यहां परोसो, वहां परोसो। हीरा जड़ित अपनी मुदरी दिखाने के लिए इधर उधर हाथ करके कहता, इधर परोसो, उधर परोसो। सो एक वहां कोई चतुर निकल आया, वह अपने गले में एक हार हीराजड़ित पहिने हुये था, सो उसने हार को हाथ से पकड़कर कहा-चल भैया ! यहां से, यहां कुछ न चाहिए। जो परोसने वाला था उसे लोगों ने शरमिन्दा किया। वह अपनी हीरा जड़ित मुदरी दिखाना चाहता था। उसने दिखा दिया उससे ५० गुना अपना हार। जब कोई विशेष दृष्टि होती है और किसी भी कार्य के उद्देश्य के खिलाफ दृष्टि होती है तो वहां चैन नहीं होती है।

आत्मा की मात्र निज स्वरूपमयता—इस आत्मा को यदि अपने सही रूप में देखें तो इसका क्या दिखता है ? कुछ भी नहीं । आप घर से आये हैं, यहां बैठे हैं, घर चिपक कर नहीं आया, परिवार बंधकर नहीं आया। धन वैभव लिपटकर नहीं आया। और कदाचित आया भी हो, कोई धन ले आया हो साथ में, तो भी धन में धन है, शरीर में शरीर है, आत्मा में आत्मा है। आत्मा

तो शरीर से भिन्न अब भी है, तो इस आत्मा को जैसा है तैसा निहारें तो एक संकट नहीं है। संकट तो लोग कल्पना करके बनाते हैं अन्यथा संकट एक नहीं है। हजार से लाख हो गये तो अब लाख से भी संतोष नहीं किया जा सकता। वह सोचेगा मैं तो बहुत गरीब हूँ, इतने से तो कुछ भी नहीं होता। अरे तो जिनके पास धन बहुत गया वह कोई भगवान तो नहीं हो गया। यह तो हम आपसे भी अधिक मलिन पुरुष हो सकता है।

ज्ञान में संतोष की साधकता—भैया ! फिर समझ लीजिए कि संतोष बिना इस जीव को सुख हो ही नहीं सकता। अपने से बड़े बड़े धनिकों को देखो तो अंतर में तृष्णा उमड़ती है और अपने से गरीब की ओर दृष्टि करके देखो तो संतोष उत्पन्न होता है। और ज्ञानी पुरुष तो सबका ज्ञाता रहता है। उसे न तृष्णा उत्पन्न होती है और न उसे अपनी परिस्थिति पर संतोष होता है। वह तो यह भावना रखता है कि हे प्रभो, यह विकल्प संकट मुझसे कब दूर हों ? इस विकल्प में ही क्लेश भरे हुए हैं। और हैं क्या ?

ग्रहकाल की विपदा का एक दृष्टांत - एक बालक बचपन से ही एक संन्यासी के पास जंगल में पढ़ता था। जब २० वर्ष का हो गया तो उस शिष्य ने कहा कि मुझे थोड़ी इजाजत दीजिए तो मैं तीर्थयात्रा कर आऊँ। संन्यासी बोला—बेटा ! कहां तीर्थयात्रा हैं ? आत्मा का जो शुद्ध स्वरूप है उसकी दृष्टि रहे वही वास्तव में तीर्थयात्रा है। कहां भटकते हो ? वहां जावोगे तो सुख दो मिनट को मिलेगा जब तीर्थ पहुंचोगे। उसके पहिले महीनों से विकल्प करना पड़ेगा। कहां जाते हो ? अपने आत्मा के पास रहो, यही वास्तविक तीर्थ है। कहा, नहीं गुरुजी, अब तो हमारा यात्रा करने का मन है ही। संन्यासी ने कहा - जावो बेटा ! यदि नहीं मानते हो तो तीर्थयात्रा कर आओ। जब वह तीर्थयात्रा करने चला तो रास्ते में एक बारात आ रही थी, वह उसे देखने लगा। वह नहीं जानता था कि यह क्या चीज है ? लोगों से पूछा—भैया ! यह क्या बात है ? इतने झमेले से तुम लोग क्यों आये ? कहा कि यह बारात है। बारात क्या चीज ? इसमें एक दूल्हा होता है, सो उसकी शादी होती है। शादी क्या चीज ? स्त्री घर में आती है। 'सो इससे क्या मतलब ?' बच्चे होते हैं , घर भरता है, इतनी बात सुनकर आगे वह बढ़ गया। थक गया। थक करके एक कुर्वे पर सो गया। कुवा कैसा था ? सपाट। जब उस पर सो गया तो उसे स्वप्न आने लगा कि हम पड़े हैं, हमारी स्त्री पास में है, क्योंकि सुन लिया था बारात का किस्सा। बीच में एक लड़का पड़ा है। स्त्री कहती हैं सरको जरा सा, तुम्हें दया नहीं आती, लड़का पिचा जा रहा है। सो स्वप्न ऐसा बुरा होता है कि होती तो कल्पना है और शरीर से चेष्टा करली जाती है। सो जरा सरक गया, और सरको जरा, बच्चे को तकलीफ है। दूसरी बार जब सरकने को कहा तो और सरक गया व

कुवा में जाकर गिर गया अब वह कुर्वे में पड़ा हुआ सोच रहा है कि गुरुजी ने सच ही कहा था कि आत्मा के ही पास में रहो, इतनी थोड़ी देर में एक आया जमींदार पानी भरने। उसने लोटा डोर कुर्वे में लटकाया पानी भरने को। सो उसने डोर पकड़ ली। अब वह जमींदार डरने लगा कि भूत है क्या? वह बोला-भाई हम भूत नहीं हैं, हम कुर्वे में गिर गये हैं, हमें कुर्वे से निकाल लो। निकाल लिया जमींदार ने उससे परिचय पूछा तो गिरने वाला बोलता है कि महाशय जी आपने बड़ा उपकार किया है, इसलिए कृपा करके आप ही पहिले अपना परिचय दीजिए। जमींदार बोला कि मैं १० गांव का जमींदार हूँ। ५० जोड़ी बैल से खेती करते हैं। ७-८ लड़के हैं, २०-२५ पोते हैं, बड़ा मकान है, हमारा परिचय तुम क्या पूछते हो तो वह गिरने वाला शिष्य उस आदमी के कभी पैर की तरफ देखे, कभी सिर की तरफ। सो जमींदार ने पूछा कि क्यों देखते हो हमारे सारे शरीर को ? क्या मैं बीमार हूँ, जो तुम डॉक्टरी करने के लिए देख रहे हो ? वह बोला कि हम और कुछ नहीं देखते हैं—सिर्फ यह देख रहे हैं कि हमने तो केवल स्वप्न में ही जरा सी गृहस्थी पायी तो कुर्वे में गिर गए, और तुम सचमुच की गृहस्थी में रहते हो तब भी जिन्दा हो ?

वास्तविक जीवन—भैया ! अगर जिन्दा का अर्थ यह लगाते हो कि शांति से रहते हैं तो जिन्दा कोई है ही नहीं। तृष्णा है, कर्तृत्व बुद्धि है, आसक्ति है, अपने स्वयं की खबर नहीं रहती है तो वहां तो जीव नहीं है। तो जब यह जीव अपने स्वरूप की से चिगता है तो नाना कल्पनाएँ कर दुःखी होता है। मुझे दुःखी करने वाला अन्य कोई पुरुष नहीं है। हम ही स्वयं अपनी कल्पना से अपने को सुखी दुःखी करते हैं। ईश्वर का स्वरूप तो जानानंदमय है। उसमें तो विकल्पों का भी अवकाश नहीं है। फिर करेंगे क्या हमारा या किसी का। प्रभु तो समस्त ज्ञेय को जानता है और अपने आनन्दरस में लीन रहता है। ऐसा ही हम सब जीवों का स्वरूप है, निर्विकल्प केवल ज्ञानमात्र, अकर्ता। अब इस ही आत्मा के अकर्तास्वरूप को एक दृष्टांत द्वारा बतलाते हैं।

दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणणं।

जह कदयादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणणमिह॥३०८॥

जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिदा सुत्ते।

तं जीवमजीवं वा तेहिमणणं वियाणाहि॥३०९॥

पदार्थों की अनंतता – इस प्रकरण को जानने से पहिले यह जान जाइए कि जगत में अनन्त

पदार्थ हैं। अनन्त तो जीव हैं और उनसे भी अनन्त गुणे पुद्गल परमाणु हैं एक धर्मद्रव्य है—एक अधर्मद्रव्य है, एक आकाश द्रव्य है और असंख्यात काल द्रव्य हैं। एक चीज उतनी कहलाती है जितने का दूसरा हिस्सा नहीं होता है। एक के दो टुकड़े नहीं हुआ करते। अगर दो टुकड़े हो जाए तो समझ लो कि वह एक नहीं था, वे अनन्त परमाणु के थे सो बिखर गए। जैसे कोई कपड़ा फट गया, दो टुक हो गए, तो समझ लो कि वह एक चीज न थी, जितने धागे हैं उतनी चीजें हैं। उन धागों को न्यारा-न्यारा कर सकते हो और एक धागे को भी तोड़कर टुककर दें तो समझ सकते हो कि वह धागा भी एक चीज नहीं है। उसमें कितने ही स्कंध मिले हैं, सो उनको बिखेर दिया।

एक का परिणाम—एक चीज के दो टुक नहीं होते। जैसे एक रुपये के दो हिस्से हो जाते हैं, आधा रूपया इसने ले लिया, आधा रूपया तुमको दे दिया, तो वह रूपया एक चीज नहीं है। वह तो १०० पैसों का समूह है। अब एक नया पैसा से कम यदि कुछ दाम नहीं होता तो उस नया पैसा का आधा नहीं हो सकता। पर नये पैसे से नीचे भी तो कुछ दाम हैं। आज उनकी प्रसिद्धि हो या नहीं, उनको छदाम, दमड़ी बोला जाता था—उसे चाहे दे ले न सकें, मगर हिसाब में तो आधा नया पैसा आ सकता है। चाहे लेने देने में न आए, पर हिसाब लगा लिया जाता है कि हम तुम दोनों के बीच में ३ नये पैसे का लाभ हुआ, सो १।। नये पैसे हमारे हुए और १।। नये पैसे तुम्हारे हुए। तो मालूम होता है कि नये पैसे का भी हिस्सा हो सकता है। जिसका दूसरा हिस्सा न हो वह है एक यूनिट।

प्रत्येक द्रव्य की अखण्डता—एक का विभाग नहीं हो सकता, यदि इस लक्षण को देखें तो जीव पूरा का पूरा द्रव्य है। जीव का कोई आधा हिस्सा नहीं होता कि आधा जीव छत पर बैठ जाय और आधा जीव यहां सुनने आ जाय, या आधा मर जाये, आधा जिन्दा बना रहे। जैसे छिपकली लड़ती हैं तो उनकी पूंछ कट जाय तो कुछ देर तक पूंछ भी हिलती और दस बीस हाथ दूर पर पड़ा हुआ धड़ भी बेचैन होता रहता है। पर ऐसा नहीं समझना कि कुछ जीव छिपकली के शरीर में रह गया आरे कुछ जीव पूंछ में रह गया। जीव अखण्ड है, उसके खण्ड खण्ड नहीं होते हैं। उस छिपकली के धड़ से लेकर पूंछ तक जीव फैल जाता है और जहां प्राणों का स्थान होता है वहां वह जीव सिकुड़ जाता है। जीव अखण्ड है जीव के कभी दो टुक नहीं होते। ऐसे-ऐसे जीव अनन्त हैं। इसी तरह यहां जो कुछ दिखते हैं ये सब स्कंध हैं और इन स्कंधों के हजार टुक हो सकते हैं। तो यह स्कंध एक चीज नहीं है। इनमें जो अविभाज्य हो परमाणु वह एक चीज है।

परमाणु के दो हिस्से नहीं किए जा सकते हैं। एकसा एक एक परमाणु एक-एक द्रव्य है। वे अनन्त हैं।

परिणमनों की परिणमयिता से अभिन्नता की नजर—भैया ! इन सब द्रव्यों में प्रत्येक द्रव्य अपने अपने अनन्त गुणों के पिण्ड हैं और प्रतिसमय कुछ न कुछ अपना परिणमन बनाए हुए हैं। यह बात सब द्रव्यों में मिलेगी। जीव अनन्त गुणों का पुंज हैं और वे उन समस्त अनन्त गुणों के परिणमन हैं। इस तरह प्रत्येक द्रव्य में जो अवस्था होती है उसका नाम तो पर्याय है और अवस्था होने की जो शक्ति है उसका नाम गुण है और उन सब गुणों का जो अभेदरूप एक चीज है उसका नाम द्रव्य है। यहां बतला रहे हैं कि द्रव्य जो कुछ भी उत्पन्न होता वह अपने उन गुणों से अभिन्नस्वरूपी रहता है, भिन्न नहीं हो जाता।

—जैसे स्वर्ण कटक आदि पर्यायों रूप से होता है तो सब पर्यायों में यह स्वर्ण और गुणों से अभिन्न ही रहता है। स्वर्ण की डली है। इस समय डली के रूप में है और उसका यदि कुण्डल बना दिया, तो कुण्डल के ही रूप में पूरा सोना हो गया। कुण्डल अलग हो, सोना अलग हो ऐसा नहीं हो सकता। फिर भी सोना में ही सोना हैं, कुण्डल में कुण्डल है और अंग भी नहीं कर सकते और एक भी नहीं। जो सोना है वह कुण्डल नहीं, जो कुण्डल है सोई सोना नहीं, फिर भी कुण्डल से अलग सोना नहीं। परखने की बात है। जो परिणमन है, जो मिट जाता है वह पर्याय है और जो समस्त पर्यायों में अन्वय रूप से व्यापक रहता है वह द्रव्य है। तो जैसे स्वर्ण कटक केसर कुण्डल आदि पर्यायों से अभिन्न रहता है, इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य जिन जिन पर्यायों से परिणमते हैं उन-उन सब पर्यायों में अपने-अपने गुणों से अभिन्न रहते हैं।

परिणमन की परिणमयिता से अभिन्नता के अवगम से पर की पर में अकर्तृता की सिद्धि—इसका अर्थ क्या निकलेगा कि जब प्रत्येक पदार्थ अपने गुणों से अभिन्न है तो हम भी अपने गुणों से अभिन्न हैं। फिर हम दूसरे का क्या करेंगे। दूसरे मेरा क्या करेंगे ? जब कोई किसी के घर गुजर जाता है ना, तो उसके घर पर रिश्तेदार लोग आते हैं शोक प्रदर्शित करने के लिए, फेरा करने के लिए। फेरा करते हैं। उस घर में जाय और फिर आ जाय, फौरन वापिस आए उसका नाम फेरी है। और समय जाकर तो कई दिनों रह भी सकता है पर मरने वाले के घर में जाय तो आना पड़ता है। तो फेरा करने जाते हैं। सो खुद रोते हैं और दूसरों को रूलाते हैं। तो वहां इस रिश्तेदार ने दूसरे को नहीं रूलाया, यह रिश्तेदार खुद अपने दुःख की कल्पना बनाकर रोने लगा और वह अपनी कल्पना बनाकर रोने लगा। और कहो ऐसा हो जाय कि रिश्तेदार बिल्कुल ही न रोता हो, थोड़ा पानी वगैरह लगा लिया, या किसी तरह से आंसू निकल आए। न दुःखी हो। तो कोई किसी

को न रुलाता हँ, न हँसाता है। मान लो कोई दूर से आए हँ तो रेल में कहो ताश खेलते आए हँ और हँसते हुए ताँगे वाले से बातें करते हुए आए हँ, और पड़ोस में आए तो रोना शुरू कर दिया। वस्तुस्वातंत्र्यपरिचय से दिगवगम—भैया ! कोई किसी के दुःख में अपना सम्बेदन कर सकता हो, यह गलत बात है। लड़के के बुखार को देखकर बाप के भी सिरदर्द हो जाय तो लड़के के बुखार के कारण सिर दर्द नहीं हुआ। बाप ने अपना नया दुःख और बनाया। कल्पना करके वह भी दुःखी हो गया और वह भी दर्द में पड़ गया। कोई किसी के दुःख सुख को करने में समर्थ नहीं है। तो जैसे स्वर्ण की पर्यायें स्वर्ण से अभिन्न हैं, स्वर्ण के गुण से अभिन्न हैं, इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्यों के परिणमन उन द्रव्यों से अभिन्न है। फिर मैं किसमें क्या कर सकूँगा ? कोई मुझमें क्या कर सकता है ? हम और आप केवल कल्पना करके रह जाते हैं। इससे आगे कुछ नहीं किया करते हैं। सत्य बात तो यह है और यह किसी तरह समझ में आए तो समझो कि हम सच्चे जैन हैं, भगवान के भक्त हैं।

एकत्व के परिचय से अर्थसिद्धि—जब यह ध्यान में आए कि मैं आत्मा ज्ञानानन्द हूँ, केवल ज्ञान विकल्प ही कर पाता हूँ। न दुकान करता हूँ, न घर चलाता हूँ, न पालन पोषण करता हूँ। ये सब स्वयं होते हैं। इन पर हमारा अधिकार नहीं है। अपने ज्ञान का परिणमन करता हूँ। ऐसे अपने अकेलेपन का निर्णय हो तो समझो कि हमने जैन उपदेश का मर्म पाया और अब हम सच्चे मायने में प्रभु के पुजारी हुए। जब हम प्रभु को पूजते हैं उस समय भी हम इस प्रभु का कुछ नहीं करते हैं। यह तो अपनी जगह में है। यह मैं आत्मा अपनी जगह से हटकर प्रभु में क्या करूँगा ? यहां भी प्रभु के गुणों का स्मरण करके अपने गुणों से मिलान करके अपने गुणों का परिणमन करके अपने को पूज रहे हैं। भगवान का हम क्या कर सकते हैं ? सर्वत्र मैं केवल अपना ही परिणमन करता हूँ, यह दृष्टि में आए तो आपने बड़ी सारभूत चीज प्राप्त की। तो इस सर्वविशुद्ध अधिकार में इस आत्मा के एकत्वस्वरूप का वर्णन चलेगा। धीरे धीरे सब विदित होगा। एक इस मर्म के जानने पर ही आप सर्व कुछ जान सकेंगे।

परमार्थ और पर्याय -जैसे सोने की जो चीज बनती है वह सोनेमय ही होती हैं। सोने की कोई सांकर है और उसे मिटाकर उसका कड़ा बना दिया तो जब वह सांकर थी तब भी स्वर्णमय थी और जब वह कड़ा बना दिया तब भी स्वर्णमय है। स्वर्ण की अवस्था स्वर्णपने को छोड़कर रह ही नहीं सकती। इसी प्रकार जीव में जो परिणाम होते हैं वे जीवनमय होते हैं और अजीव में जो परिणाम होते हैं वे जीव के नहीं होते हैं। जीव का परमार्थ स्वरूप और है और अवस्था का स्वरूप

और है। जीव के स्वरूप का नाम है परमार्थ और जीव की अवस्था का नाम है माया। जिसे कहते हैं माया और ब्रह्म।

परमार्थ और पर्याय के स्वरूपावगम के लिए एक दृष्टांत—जैसे पानी गरम कर दिया गया, तो गरमी पानी से अलग नहीं है। पानी ही गरमीमय हो गया है, फिर भी गरमी का स्वरूप और है, पानी का स्वरूप और है। गरमी का स्वरूप ही यदि पानी का स्वरूप हुआ हो तो सदा पानी गरम ही रहना चाहिए। सो ऐसा होता नहीं। इस तरह गरमी तो है एक माया रूप, अब है फिर नहीं है और जल है आधारभूत। यह सर्वविशुद्ध ज्ञान की बात चल रहीं है। अपने आप में सहज अपने ही सत्त्व के कारण जो अपना स्वरूप है उसकी पहिचान बिना यह जीव नरक, तिर्यच, मनुष्य देव, रागी द्वेषी पुरुष, इन नाना भावों में बसा हुआ है और इसे अपने उस सहज ज्ञानस्वरूप का परिचय हो जाय तो यह माया सिमिट जाता है। यह ब्रह्म अन्यत्र नहीं है। आपका जो सहज स्वरूप है वही ब्रह्मरूप है।

माया का निर्गमम—माया किसे कहते हैं ? माया, जो मा के योग्य है, निषेध के योग्य है मत हो, वह है मा और जो या है, वह है मत अर्थात् जो यह है वह परमार्थ नहीं और जो परमार्थ है वह यह नहीं। लेकिन माया और परमार्थ जुड़े जुड़े घर में रहने वाले नहीं हैं। परमार्थस्वरूप में काल में माया का भेष धारण किया है और इसी तरह जब यह आत्मा माया कोई नई चीज न होगी। जैसे वस्त्र में मैल लगा है, साबुन पानी से उसे धोते हैं तो धोने पर कोई नई चीज नहीं बन गयी। जो चीज है वही मिलेगी। कोई नया वस्त्र नहीं हो जायेगा। उसमें कहीं से नई सफेदी न आ जायेगी। जो इसके अन्तर में है सफेदी वह व्यक्त हो जायेगी।

टंकोत्कीर्णवत् निश्चलता का दृष्टांत—जैसे एक पाषाण में मूर्ति बनाना है। बहुत बड़ा पाषाण लाये, कारीगर से कहा देखो इस प्रकार की ऋषभदेव की मूर्ति बनावो। कारीगर ने चित्र देखा दूसरी जगह जहां ऋषभदेव की मूर्ति थी दिखा आए। ऐसी बनाना है। तो उस पत्थर को देखकर कारीगर कहता है कि हां बन जायेगी मूर्ति। कारीगर ने उस पत्थर में अभी से मूर्ति देख रखी है। जो उस पत्थर के बहुत बीच में है। यदि कारीगर ने मूर्ति न देख रखी हो तो उसका हाथ ही न चल सके। कहां छेनी चलायेगा, बीच में ही पटक देगा तो मूर्ति तो न बन सकेगी। वह संभाल-संभाल कर अगल-बगल के मोटे पत्थर निकालने के लिए धीरे से हाथ क्यों चलाता है यों कि उस कारीगर ने उस पत्थर में वह मूर्ति देख रखी है, जो मूर्ति ओर लोगों को बड़ी मुश्किल से देखने को मिलेगी। तब फिर वह क्या करता है ? क्या कारीगर मूर्ति बनाता है ? कहीं से कोई चीज

उसमें लगाता है क्या ? जोड़ता है क्या ? अरे नहीं, वह मूर्ति जो दिख चुकी है, जो उसके अन्दर है रोकने वाले अगल बगल के पत्थर लगे हैं उन पत्थरों को छेनी से हटाता है।

आवरण निवारण पद्धति—भैया ? जरा छेनी से उन अवयवों को हटाने की भी पद्धति देखो। पहिले बहुत बड़ी सावधानी नहीं रखता। कुछ तो रखता है। बड़ी छेनी बड़ा हथौड़ा मारता है। निकालता है पत्थर को। थोड़ा जब कुछ रूपक सा बन जाता है तब उसने छोटी छेनी ली, और छोटी हथौड़ी लिया और सावधानी से पत्थर को निकालता हैं। जब उस मूर्ति का रूपक सामने आ जाता है तब उसके साधारण दोष मिटाने के लिए बहुत हल्की छेनी लेते हैं और बहुत हल्की हथौड़ी लेते हैं। जैसे प्लास्टिक के फौन्टिनपैनों पर नाम खोदने वाले बहुत पतली हथौड़ी और बहुत पतली छेनी रखते हैं। काम कराने वाले हैरान हो जाते हैं। क्या किया, आज तो काम कुछ भी नहीं किया। कुछ सावधानी के साथ अत्यंत सूक्ष्म छेनी और हथौड़ी से आवरणों को हटाते हैं। हो चुके उसके तीन प्रयोग जो मूर्ति उस पत्थर में थी वह निकल आयी, प्रकट हो गई, लोगों को दिखने लगी।

प्रथम विभक्तीकरण—इसी तरह हम और आप का प्रभु, ये सब मूर्तिमान प्रभु बैठे हैं। हम आप सबके अंदर वह परमात्मतत्त्व स्वयं बसा हुआ है। अपने को संतुष्टि, मुक्ति परमात्मस्वरूप पाने के लिए नया काम नहीं करना हैं, कहीं से चीज नहीं जोड़ना है। गृहस्थावस्था में ये बाह्य आलम्बन किया करते हैं, पर यह आलम्बन भी काम नहीं देता है। यहां कोई नई चीज नहीं जोड़ना है किंतु बना बनाया यह घट घट में बसा हुआ प्रभु जिन विषय और कषायों के परिणाम से ढका हुआ है वे विषय कषाय के परिणाम ज्ञान की छेनी से, ज्ञान की हथौड़ी से ज्ञान की चोट से, ज्ञानमय यह पुरुष जब वहां विभाग करता है तो देखो पहिले तो ये अपने बाह्य आवरणों को दूर करते हैं, धन वैभव को ही नहीं, ये जड़ पदार्थ तो अत्यंत भिन्न हैं, इनसे तो मैं न्यारा हूँ ही, और इस शरीर से भी मैं न्यारा हूँ। तो पहिली चोट तो भिन्न-भिन्न इन बाह्य पदार्थों पर यह ज्ञानी करता है, इनसे मैं न्यारा हूँ। देहात के लोगों से भी पूछ लो, वे भी बता देंगे कि शरीर से जीव न्यारा है, मर जाता है तो शरीर यहीं पड़ा रहता है और जीव चला जाता है। सबसे पूछ लो-सभी बतायेंगे। तो यह पहिले आवरण हटाया जिसमें अधिक सावधानी नहीं करनी पड़ी।

द्वितीय विभक्तीकरण-अब दूसरा प्रयत्न देखो जिसमें कुछ विशेष सावधानी करनी पड़ी। इस आत्मा के साथ सूक्ष्म शरीर लगा हुआ है, जो मरने पर जीव के साथ जाता है, जिसे तैजस और कार्माणशरीर कहते हैं। सर्व संसारी जीवों के यह सूक्ष्मशरीर लिपटा है। अनादि काल से ये लगे हैं, एक समय को भी अलग नहीं हो सकते। उन सूक्ष्म शरीरों से भी न्यारा हूँ ऐसे कुछ पैने ज्ञान और छोटी हथौड़ी की चोट से बाह्य आवरणों को हटाया। मैं कर्मों से भी न्यारा हूँ।

तृतीय विभक्तीकरण—अब तीसरी चोट बड़ी सावधानी से जानी लगाता हैं कि मेरे में जो विचार होते हैं, रागादिक भाव होते हैं उन सबसे मैं न्यारा हूँ, एक चिन्मात्र हूँ, ऐसा जहां तीसरी बार का यत्न हुआ और यह यत्न स्थिर रह सका तो जो प्रभु मौजूद है वही का वही प्रकट हो गया। कोई नई चीज नहीं निकलती।

जीव की परभाव से विविक्तता—भैया ! जीव का परिणमन है वह सब जीवमय है और अजीव का जितना परिणमन है वह सब अजीवमय है। इस कारण जीव का अजीव कुछ नहीं करता, अजीव का जीव कुछ नहीं करता । सम्बंध बना हुआ है यह निमित्तनैमित्तिक भाव के कारण सम्बन्ध बना हुआ है। जो यह भ्रम है कि मैं हुक्म देता हूँ तब मेरे भाई या मेरे नौकर काम करते हैं, यह आपका सोचना बिल्कुल भ्रम है। यदि उस मित्र का, उस भाई का काम करने का परिणाम न बने तो वह नहीं कर सकता है। आप सोचते हो आपके सोचने से जैसा आप कहते हैं तैसा मान जाता है यह सोचना भूल है। बच्चे के मन में अपना हित न जंचे तो बाप की बात नहीं मानता है। बाप भी बच्चे का कुछ नहीं करता है बाप के आगे बच्चा थोड़ा हाथ जोड़ तो दे फिर तो उस बाप को उस बच्चे का चाकर बनकर सेवा करनी पड़ती है। कोई किसी की बात नहीं मान सकता। सब अपने-अपने सुख के लिए कषाय परिणाम रखकर अपना अपना प्रवर्तन किया करते हैं।

निजभाव के अनुसार प्रवृत्तियां - प्रत्येक जीव मात्र अपनी परिणति से परिणमता है, दूसरे की परिणति से नहीं परिणमता है। इसके लिए क्या ज्यादा दृष्टांत दें। अपने जीवन में हजारों घटनाएं ऐसी होगी कि जिसे हम समझते हैं कि यह मेरा मित्र है, बहुत मित्र है, बहुत आज्ञाकारी है और कहो कभी उसके द्वारा बड़ा धोखा खा जायें। जिसे आप मानते हो कि यह हमारा बड़ा दुश्मन है कहो वही कभी मित्र बन जाय। तो जैसे जैसे अपना परिणाम बनता है वैसे ही वैसे अपनी प्रवृत्ति होती है।

अपना वैरी अपनी वैर कल्पना—एक राजा किसी शत्रु पर चढ़ाई करने जा रहा था। शत्रु भी अपनी जगह से चढ़कर आ रहा था। रास्ते में एक मुनि महाराज मिल गए, उनके दर्शन किये। दर्शन करके बैठ गया, उपदेश सुना। कानों में सेना की कुछ आवाज आई। राजा चौकन्ना होकर झट संभल कर बैठ गया। कुछ और निकट आए तो वीरासन में बैठ गया। कुछ दिखने सा लगा तो तलवार पर हाथ लगाया, कुछ और निकट आया तो तलवार निकाली। मुनि कहते हैं कि राजन् यह क्या कर रहे हो ? तो राजा बोला महाराज शत्रु ज्यों-ज्यों निकट आते हैं त्यों-त्यों मेरा क्रोध उमड़ता जा रहा है। मैं उसका नाश करूंगा, ऐसा संकल्प कर रहा हूँ। मुनि बोले राजन् तुम बहुत ठीक काम कर रहे हो। ऐसा ही करना चाहिये। मगर एक शत्रु तो तुम्हारे अंदर ही घुस गया,

उसे जल्दी निकालो। उसका नाश करो। महाराज मेरे अंदर कौन सा शत्रु घुस गया ? महाराज बोले कि तुम्हारी जो दूसरे जीव को शत्रु मानने की कल्पना है वह कल्पना ही तुम्हारा शत्रु है और यह शत्रु तुम्हारे अंदर घुस गया है। सोचा ओह सर्व जावो का एक स्वरूप है। कोई किसी का बिगाड़ नहीं करता, कोई किसी का बैरी नहीं है। सिर्फ कल्पना में मान लिया है कि यह मेरा बैरी है। बस यह कल्पना ही मुझे दुःख दे रही है। अब तो उसके वैराग्य बढ़ा और वहीं साधु दीक्षा ले ली। अब तो समस्त शत्रु और राजा आ गए और सब चरणों में गिरकर शीश झुकाकर चले गए। निर्वैर और ज्ञानमय आत्मस्वरूप—भैया ! इस जीव का कोई वैरी नहीं है। कोई जीव किसी का विरोधी नहीं है। सब की अपनी-अपनी कषाय के अनुसार चेष्टा होती है। उसमें जिसे बाधक मान लिया जाता है उसको शत्रु कहते हैं। और जिसे साधक मान लिया जाता है उसे मित्र कहते हैं। पर ये जो राग द्वेष की हठें हैं वही परेशानी में डाल रही है। जीव कल्याणमूर्ति है, ज्ञानानंदघन है, प्रभुस्वरूप है, अत्यंत स्वच्छ है। सारे विश्व को एक साथ जान ले ऐसी शक्ति है। यह दूसरे की बात नहीं कही जा रही है, यह आपकी स्वयं की बात है। मगर समागम में आई हुई तुच्छ चीजों में आसक्ति करके, मोह करके इतने बड़े कल्याणरूप को बरबाद कर रहे हो। जैसे द्वेष में बरबादी होती है वैसे ही राग में बरबादी होती है। राग और द्वेष दोनों ही मलिन भाव हैं—और प्रभुता के नाश करने वाले भाव हैं।

हठ से विडम्बना—एक मास्टर और मास्टरनी थे। मास्टर जी कालेज में पढ़ाते थे और मास्टरनीजी किसी कन्या पाठशाला में पढ़ाती थी। दोनों पुरुष स्त्री ने छुट्टी के दिन के लिये सोचा कि कल क्या खाना चाहिए ? सो आपस में तय हुआ कि मुँग की मंगौड़ी कल बनना चाहिए। सामान जुटाया खूब मेहनत से, अब मंगौड़ी बनाया तो २१ बनी संख्या में। अब जब मास्टरजी जीमने बैठे तो १० परोस दीं मास्टर को और ११ अपने लिए रख लिया। तो मास्टर बोला कि ११ मंगौड़ी हम खायेंगे, मास्टरनी बोली कि हम ११ मंगौड़ी खायेंगे हमने मंगौड़ी बनाने में बहुत श्रम किया है। दोनों में यह तय हुआ कि हम तुम दोनों चुपचाप हो जायें, जो पहिले बोलेगा वह तो १० मंगौड़ी खायेंगा, और जो बाद में बोलेगा वह ११ मंगौड़ी खायेंगा। अब उन दोनों में हुज्जत हो गयी। सो चुपचाप बैठे। एक दिन हो गया, दो दिन हो गए, दोनों ही भूखे बैठे रहे। दोनों ही भूख से लस्त पस्त हो गए थे। अभी एक दिन अनशन करके आप ही देख लो तो पता पड़ जायेगा कि बेहोशी सी आ जाती है कि नहीं। सो वे दोनों अधमरे से पड़े थे। मगर हठ जो लगी है उसका फल तो बुरा ही होगा। पहिले जो बोल देगा वह १० ही मंगौड़ी पायेगा। सो दो तीन

दिन के बाद वे मरे से हो गये। तो लोग लकड़ी के किवाड़ चीरकर भीतर घुसे, भीतर से जंजीर लगी थी। देखा कि मास्टर मास्टरनी दोनों मर गए।

लोगों ने सोचा कि भाई ले चलो दो अर्थी क्यों बनाए ? एक ही में दोनों को मरघट में ले चलो। वहां लकड़ी कंडा इकट्ठा किया, दोनों को लिटा दिया। आग लगाने में जरा सी देर थी । मास्टरनी सोचती है कि अब तो हम भी मरे और ये भी मरे। अब तो दोनों ही मरेंगे। हठ करने में कुछ धरा नहीं है। हठ छोड़ना चाहिए। अब भाग्य की बात है कि उस दिन २१ आदमी आए थे जलाने कि लिए गिनती के। मास्टरनी बोली-अच्छा तू ही ११ खा लेना हम १० को खा लेवेंगी। वे २१ थे, सो सबने सोचा कि ये तो दोनों ही भूत भूतनी बन गए। भूत तो हम सबमें से ११ को खा लेगा और भूतनी १० को खा लेगी। सो इतना सुनकर सब जान बचाकर भाग गए। फिर जब निकले तो कहा कि देखो हठ में कोई सार नहीं है। दोनों ही मर जाते तो क्या होता ?

हठ से हानियां—तो भैया ! जरा जरा सी बातों में जो इतनी हठ हो जाती है कि हम कभी दूसरे का गौरव भी नहीं कर सकते हैं—चलो दूसरा कोई अगर सुखी होता है तो होने दो, अपनी हठ छोड़ो। हठ छोड़ने में अपनी बिगाड़ कुछ नहीं है। हठ रखने की जो आदत है इस आदत से भीतर में रागद्वेष की वासना प्रबल हो जाती है। प्रथम तो यह बात है कि कोई जीव किसी दूसरे जीव का कोई परिणमन नहीं करता। सब केवल अपनी-अपनी सृष्टि बनाते जाने में मरते रहा करते है। संसार की ऐसी ही स्थिति है। मेरा ऐसा स्वरूप है कि किसी पर मेरा अधिकार नहीं मेरा मुझ पर ही अधिकार है। अपने को सुधार लें अथवा बिगाड़ लें। हम ही अपने को कुछ भी कर सकते हैं, दूसरे का कुछ नहीं कर सकते हैं। जब कभी सच्चे ज्ञान की झलक होती है और आकिंचन जानें, और किसी क्षण यदि ऐसा भाव बनाएं कि कुछ भी चाह न आए, चाहे हज़ारों आवश्यकताएं पड़ी हुई हों, मगर किसी समय कुछ भी चाह न आए, सर्व से अत्यंत विविक्त होकर केवल ज्ञानस्वरूप मात्र पर दृष्टि जाए तो यही अपने उद्धार का उपाय है। और जो कुछ हठ करके रहेगा उसके हाथ कुछ भी न लग पायेगा।

हठी के हाथ कोयला—एक नाई था। सो सेठजी की हजामत बना रहा था। जब छुरा मुंह के पास लाया तो सेठ डरने लगा। कहा, देखो अच्छी तरह हजामत बनाना, हम तुम्हें कुछ देंगे। नाई ने जब गले के छुरा फेरा तो फिर सेठ डरा। फिर कहा कि अच्छी तरह बनाना, हम तुम्हें कुछ देंगे। नाई ने सोचा कि सेठ कोई अच्छी चीज देंगे। जब हजामत बन चुकी तो ८ आने देने लगे। बोला यह नहीं लेंगे, हम तो कुछ लेंगे। १ रूपया दिया, बोला नहीं लेंगे, पाँच रूपया दिया, बोला नहीं

लेंगे। १० रूपया दिया, नहीं लेंगे। गिन्नी देने लगा-बोला नहीं लेंगे, हम तो कुछ ही लेंगे। सेठ परेशान हो गया। कहा अच्छा भाई प्यास लगी है सो उस आले से वह गिलास उठा दो, हम दूध पी लें फिर तुम्हें कुछ देंगे। झट दौड़कर नाई गया। उठाया तो गिलास के दूध में कुछ पड़ा हुआ नजर आया। उसे देखकर उससे न रहा गया, बोला-सेठजी इसमें तो कुछ पड़ा है। क्या कुछ पड़ा है? हां। तो अपना कुछ उठा ले। अब बतलावो उसे क्या मिला ? कोयला । अब यह देखो कि सेठ असर्फी तक दे रहा था पर नहीं लिया, वह अपनी हठ पर अड़ा ही रहा सो उसे कोयला मिला। इसी तरह लाखों की चाह हो, करोड़ों की चाह हो, कितना भी वैभव मिल जाए पर शांति उससे नहीं होती है। शांति तो तभी मिल सकती है जब कि अपने को इस जगत में सबसे भिन्न जानकर रहें। इसी लक्ष्य से अपना चरम विकास है।

धर्म के लिये ही जिन्दगी—भैया ! मैं जी रहा हूँ तो धर्म के लिए जी रहा हूँ ऐसी भावना आनी चाहिए। यह बात सच्ची कही जा रही है। धन विघट जायेगा, परिवार विघट जायेगा, शरीर विघट जायेगा, केवल एक धर्म ही साथ में रहेगा। तो यह निर्णय रखो अंतर में कि हम जीवित हैं तो धर्म के लिए जीवित है, धन के लिए नहीं, परिवार के लिए नहीं। ये सब स्वप्नवत् है, मायारूप है। इसी प्रकार इस मोह की नींद में जो कुछ दिख रहा है वह इस काल में सच मालूम हो रहा है यह सब बिल्कुल झूठ है, मायारूप है। आप हमें नहीं जानते, हम आपको नहीं जानते और फिर भी सम्बंध आप इतना बनाए जा रहे हैं। आप हमें जानते हैं क्या ? नहीं जानते और मैं आपको जानता हूँ क्या ? नहीं जानता। यदि मैं आपको जानता होता, आप मुझे जानते होते तो आप और हम स्वयं ज्ञानमय हो गये होते, फिर वहां व्यावहारिक प्रवृत्ति करने का काम ही नहीं होता। सो इस समस्त विश्व को मायारूप जानकर इसमें मोह न करना, इसमें उपेक्षा भाव रहे, आत्महित की धुनि रहें इसी में ही अपना कल्याण है।

ण कुदोचि वि उप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो आदा।

उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण स होदि।।३१०।।

परिणमन ही अपने-अपने द्रव्य में तन्मयता के कारण कार्यकारणपने का अभाव—प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें ही परिणमन करते हैं, इस कारण उनका जो भी परिणमन है वह उन्हीं पदार्थों में तन्मय है। आपका परिणमन चाहे शुद्ध हो चाहे अशुद्ध हो, वे सब आपसे अभिन्न हैं। तो जब सभी द्रव्यों का अपना-अपना परिणमन अपने अपने द्रव्य से अभिन्न है तब यह कैसे कहा जा सकता कि अमुक पदार्थ अमुक दूसरे से उत्पन्न हुआ है ? जब सर्व पदार्थों का परिणमन उन ही

में निज में तन्मय है तो कौन सी ऐसी गुंजाइश है जो यह कहा जाय कि अमुक पदार्थ अमुक दूसरे से उत्पन्न होता है। यह उपादान की दृष्टि रखकर बात की जा रही है, किंतु सर्वविशुद्ध का निरूपण निश्चय दृष्टि से होता है, व्यवहार दृष्टि से सर्वविशुद्ध का निरूपण नहीं होता अर्थात् सबसे पृथक् केवल अपने स्वरूप मात्र का वर्णन निश्चय दृष्टि से ही सम्भव है और निश्चय दृष्टि में पर की दृष्टि ही नहीं है। सो वहां निमित्तनैमित्तिक भाव की दृष्टि ही नहीं है। एक पदार्थ ही देखा जा रहा है और उसके बारे में वर्णन किया जा रहा है कि ये पदार्थ अपने में ही अपना परिणमन करते हैं।

कार्यकारणपने के अभाव से कर्तृकर्मत्व का अभाव—भैया ! जब कोई पदार्थ किसी भी पदार्थ से उत्पन्न नहीं हुआ है तो वह कार्य कैसे हो सकता है ? यह बात आत्मा की है, तो आत्मा कार्यरूप नहीं है और कोई पदार्थ

किसी दूसरे को उत्पन्न नहीं कर सकता है , फिर वह कारण कैसे हो सकता है ? इस कारण आत्मा कारण भी नहीं है और आत्मा कार्य भी नहीं है। जरा कोल्हू में बालू डालकर देखो तेल उत्पन्न होता है कि नहीं। तेल तिल से ही पैदा होता है, सरसों से तेल नहीं निकलता। तिल से ही तेल निकलता है । सरसों से जो निकलता है उसका नाम लोगों ने तेल रख लिया। तिल से जो उत्पन्न हो उसे तेल कहते हैं। पर तेल की समानता है, तिल से उत्पन्न होने वाली वस्तु की तरह वह परिणति है इसलिए सबका नाम तेल रख दिया। सरसों का नाम सरसौल रख लो, बादाम का नाम बदौल रख दो। रूढिविश कितने ही नाम बोल दिए जाते कि जिनका नाम अर्थानुसार फिट नहीं बैठता मगर सब समझते हैं । तो बालू में तेल उत्पन्न नहीं होता, इसलिए बालू तेल का कारण नहीं है और तेल बालू का कार्य नहीं है। इसी तरह जीव की परिणति पुद्गल से नहीं होती इसलिए जीव की परिणति पुद्गल का कार्य नहीं है। और उनके परिणामों का कारण पुद्गल नहीं है, इसलिए जीव और अजीव में कार्य कारण भाव नहीं है।

विशुद्धता का भाव परविविक्तता—यहाँ सर्वविशुद्ध तत्व निरखा जा रहा है। सर्वविशुद्ध तत्व तब ही निरखा जा सकता है जब किसी भी पर की ओर दृष्टि न हो। केवल उस ही स्वरूप की दृष्टि हो जिस स्वरूप को देखना है और वर्णन करना है। क्रम क्रम से होने वाली जितनी भी अवस्थाएँ हैं उन अवस्थाओं से उत्पन्न होता हुआ यह जीव-जीव ही है, अजीव नहीं है। जीव की अवस्थाओं पर दृष्टि बिल्कुल न दें तो जीव को यहां कौन पहिचान सकता है ? मनुष्य, पशु, तिर्यच, नारकी मुक्त जीव इन सबके सहारे ही हम जीव की चर्चा किया करते हैं। तो ये जितने भी जीव के परिणमन हैं वे सब जीवमय है अजीव नहीं है। इसी प्रकार अजीव को भी निरखना जो उनका

परिणमन है उन परिणमनों से उत्पन्न होते हुए वे सब कुछ अजीव ही हैं, जीव नहीं हो सकते हैं, क्योंकि समस्त द्रव्य अपने ही परिणमन के साथ तादात्म्य रखते हैं, दूसरे के परिणमन से उनका तादात्म्य नहीं है।

पर के द्वारा पर के परिणमन की अशक्यता—कोई मनुष्य किसी भाई को समझाता है, भाई हमारी बात तो तुम मान ही लो, तो उसके कहने से क्या वह बात मान लेता है ? उसके मन में आए तो मानता है। कहता है भाई हमने बात तुम्हारी पूरी मानी है, अरे वहां उसने उसकी बात रत्ती भर भी नहीं मानी। कोई किसी की बात सीधा नहीं मानता है। बात मानना तो उनका परिणमन है और उन परिणमनों का तादात्म्य उस मानने वाले के साथ है, दूसरे के साथ नहीं हो सकता है, इसलिए एक जीव का किसी दूसरे जीव के साथ कोई कार्य-कारण सम्बंध नहीं। और न किसी जीव के साथ इसका कार्य-कारण सम्बंध है। जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है। उसका अजीव के साथ कारण कार्य कैसे होगा? जैसे सोने का गहना बनाना है तो भाई चाँदी ले जावो तो क्या क्या बन जायेगा? चाँदी की ही चीज बन जायेगी। सोने से वास्तविक सोने की चीज बनेगी ? सोने के आभूषण का चाँदी के साथ कोई कार्य-कारण भाव नहीं है। इसी प्रकार जीव के परिणाम का अजीव के साथ कोई कार्य-कारण भाव नहीं है?

विवेकी के भुलावा क्यों ?—भाई ! बच्चा हो तो भूल कर ले। भीत में यदि सिर लग जाय तो उसकी मां भीत में ३-४ थप्पड़ मार दे तो शांत हो गया। इस भीत ने मुझे मारा था तो देखो अम्मा ने भीत को कैसा मारा ? तो बच्चा हो तो भले ही भूल कर जाय, मगर जो बुद्धि रखता हो और ऐसी भूल करे कि मुझे अमुक अजीव ने सुख दिया, अमुक अजीव ने वह दुःख दिया तो वह उसका विवेक नहीं है। यह उसकी मौलिक भूल है। वह संसार में रूलता चला जा रहा है। समस्त द्रव्यों का किसी भी अन्य द्रव्य के साथ उत्पाद्य-उत्पादक भाव नहीं है। हालांकि निमित्तनैमित्तिक भाव बिना कोई विभाव का कार्य नहीं होता। फिर भी पदार्थ का परिणमन उस ही पदार्थ से निकलता है, किसी दूसरे पदार्थ से नहीं निकलता है।

पर का पर में अकर्तृकर्मत्व—भैया ! रोटी आटे से ही बनती है, धूल से नहीं बन सकती है, यह कितना विश्वास है। वैसे ही हाथ जरा धूल पर चलावो और इटावा की धूल तो आटे के ही बराबर चिकनी है, रूंदने में आ जायेगी, बेलने में आ जायेगी। (हँसी) तो जैसे रोटी आटे से ही बनती है, उपादान उसका अन्न है, धूल आदिक नहीं है, इसी प्रकार कोई भी कार्य हो, मान आए, लोभ आए, कोई परिणमन हो, उसका उपादान में ही हूँ, मेरे क्रोध दूसरों से नहीं आता, मेरे से ही बनता है। मेरे विषय कषाय, मेरे सुख दुःख मेरे से ही बनते हैं, किसी दूसरे से नहीं बनते हैं।

यदि कोई पदार्थ किसी दूसरे से पैदा होने लगे तो संसार में अंधेर मच जाय। फिर तो कोई पदार्थ नहीं रह सकता है। यह पूर्ण वैज्ञानिक बात वस्तुस्वरूप के बारे में कही जा रही है। वैज्ञानिक लोग भी यह मानते हैं कि जो जो पदार्थ सत् है उसका कभी विनाश नहीं होता। उसका परिणमन चलता रहता है। और उन दो पदार्थों के सम्बंध में भी, निमित्तनैमित्तिक भाव में भी जो बात बनती है उन दो की दशा उन दो में अलग अलग बनती है। तो जब एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ कार्य-कारण भाव सिद्ध नहीं होता तो तुम यह कैसे कह सकते हो कि यह अजीव जीव का कर्म है। यह जीव का परिणाम अजीव का फल है, यह बात सिद्ध नहीं होती ।

छायापरिणत की छाया—अच्छा देखिये जितनी जगह में यह छाया हो रही है यह छाया किसकी हो रही है ? यह भीत की छाया है ? नहीं। जहां आप बैठे हैं यह छाया इस जगह की छाया है और भीत उस उस में निमित्त है। अगर भीत की छाया होती तो भीत में रहती। जिसकी जो चीज होती है वह उसमें रहती है। भीत का रूप है, भीत का जो कुछ है वह भीत में मिलेगा, भीत से बाहर न मिलेगा, पर भीत उसमें निमित्त है। और छाया जमीन की है। इस तरह व्यवहार में यह छाया हाथ की हो गयी, बीच में छाया बिल्कुल नहीं है। आप लोगों को भ्रम भले ही हो जाय कि जमीन पर भी छाया है और जमीन से चार हाथ ऊपर भी छाया है। पर जमीन से एक सूत भी ऊपर छाया नहीं है। अरे है तो छाया जमीन की। ऊपर कोई पुद्गल चीज रखी हो तो छाया है, नहीं तो नहीं है। जैसे तख्त पर छाया है वह तख्त की है, जो जमीन पर छाया है वह जमीन की छाया है और जहां कुछ न हो वहां कुछ नहीं है।

प्रकाशपरिणत का प्रकाश—भैया ! उजाला भी उजेले में है। उस पुद्गल का ही उजाला है। कभी देखा होगा कि जब अंधेरी रात में आप टार्च जलाते हैं तो उस भीत पर तो उजेला मिलेगा पर उस भीत और टार्च के बीच में उजाला न मिलेगा। आप कहेंगे कि मिलता है, थोड़ी-थोड़ी किरणें मिलती हैं। तो उस बीच में जो सूक्ष्म पुद्गल फिर रहे हैं, जो आपको कूड़े की तरह नजर आ रहा है वह उसका ही उजाला है, आकाश में जरा नहीं है जब कि बीच में कोई चीज खड़ी कर दें तो उस चीज पर तेज उजाला हो जाता है और कुछ चीज न हो तो एक मामूली उजाला रहता है, सो वह मामूली उजाला भी वहां के फिरने वाले सूक्ष्म मैटर का है। कोई उजाला नाम की अलग से चीज नहीं है। जिस पुद्गल का उजाला है उसकी वह चीज है।

उत्पाद्य उत्पादक सम्बन्ध न होने पर भी निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध का प्रसार—सो भैया ! जब ऐसी स्थिति है कि जिसका जो परिणमन है वह उससे ही निकलता है, उसमें ही तन्मय है। तब यह ख्याल बनाया कि मेरा धन है, मेरा वैभव है, मेरा घर है, मेरा परिवार है, यह सब इतना

कठिन भ्रम है कि जिसका फल संसार में रुलना ही रहता है तो यह निश्चय करो कि जितने पदार्थ हैं-जीव हों, परमाणु हों, प्रत्येक पदार्थ अपने में अनन्त शक्ति रखते हैं ओर जितनी शक्तियाँ हैं उतनी उनकी अवस्थाएं बन रही हैं। तो वे पदार्थ अपने गुणों में और अपनी अवस्थाओं में ही तन्मय हैं फिर यह प्रश्न होता है तो फिर यह संसार बन कैसे गया ? जब किसी पदार्थ का किसी अन्य पदार्थ के साथ कोई सम्बंध नहीं है तो फिर वह बन कैसे गया ? उत्तर देते हैं।

कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि।

उप्पज्जंति य णियमा सिद्धि दु ण दीसदे अण्णा।।३११।।

विभाव का साधक निमित्तनैमित्तिक भाव—कर्मा का आश्रय करके तो कर्ता होता है और उनमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है। अन्य प्रकार से कर्ता कर्म की सिद्धि नहीं है। अच्छा एक बात पहिले बतलावो-पिता पहिले होता है कि पुत्र पहिले होता है। पिता पुत्र दोनों एक साथ होते हैं, क्योंकि जब तक पुत्र नहीं होता तब तक उसका पिता नाम कैसे पड़ा ? यह फलाने हैं, यह फलाने हैं, ये नाम तो पहिले से हैं, मगर पिता तो पहिले नहीं है। पुत्र की अपेक्षा से बाप नाम पड़ा है, पिता की अपेक्षा से पुत्र नाम पड़ा है। इस कारण पिता और पुत्र का होना दोनों एक साथ हैं। इन दोनों में परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है, उसके कारण वह पिता, उसके कारण वह पुत्र होता है। इसी प्रकार कर्मा का उदय आता है और आत्मा में विभाव पैदा होते हैं, तो यह बतलावो कि उदय पहिले आता कि विभाव पहिले होता है ? सुनने में ऐसा लगता होगा कि जैसे पिता पुत्र की बात सुनकर ऐसा जान लेते हैं कि वाह पिता पहिले हुआ पुत्र बाद में हुआ। इसी तरह यह लगता होगा कि उदय पहिले आता है राग बाद में, पर ऐसा नहीं है, जिस समय उदय है उस समय राग भाव है। राग का होना, कर्मा का उदय होना दोनों एक साथ हैं। विभाव है नैमित्तिक भाव।

साथ होने पर भी कार्यकारणभाव सम्बंध—अच्छा दीपक का जलना पहिले होता है कि प्रकाश का होना पहिले होता है ? दीपक पहिले हुआ कि प्रकाश पहिले हुआ ? एक ही समय में होते हैं। पर एक ही समय में होकर भी आप यह बतलावो कि प्रकाश दीपक का कारण है कि दीपक प्रकाश का कारण है। अब निमित्तनैमित्तिक भाव पर आइए। तो दीपक प्रकाश का कारण है, एक साथ होने पर भी दीपक कारण है और प्रकाश कार्य है। तो एक साथ बहुत सी चीजें होती हैं। पर उनमें निमित्त नैमित्तिक भाव जैसा हुआ करता है वैसा ही है। अब जैसे कर्म के उदय का निमित्त पाकर आत्मा में राग परिणाम हुआ तो जैसे ही आत्मा में वैराग्य परिणाम का निमित्त पाकर वहां कर्मा का क्षय भी तो हो जाता है। तो कर्मा की दशा बनाने के लिए आत्मा का परिणाम कारण

पड़ता है और आत्मा के परिणाम बनाने के लिए कर्मों की अवस्था कारण पड़ती है, ऐसा परस्पर में निमित्तनैमित्तिक व्यवहार होने पर भी परमार्थतः इसका परस्पर में कार्य कारण भाव नहीं होता है, क्योंकि हो गया ऐसा, परंतु अपने अपने स्वरूप में सब द्रव्य रह रहे हैं। उनको अपने से बाहर मुलकने की फुरसत नहीं है। इस कारण किसी द्रव्य का कोई अन्य द्रव्य न कार्य है और न कारण है।

स्वतन्त्रता सत्तासिद्ध अधिकार—यहां सर्व विशुद्ध भाव को दिखाया जा रहा है, प्योर(pure) सबसे न्यारा, केवल सत्वमात्र स्वरूप की दृष्टि की जा रही है। इस दृष्टि में इस जीव में केवल जीव ही जीव नजर आते हैं। और अजीव में अजीव ही नजर आते हैं। ऐसा है वस्तु का स्वातंत्र्य सिद्धान्त । भारत की आजादी के लिए सबसे पहिला नारा था तिलक का और भी हों तो हम नहीं जानते। तो प्रथम नारा यह हुआ 'कि आजादी हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।' जब हम भी मनुष्य हैं और अंग्रेजों ! तुम भी मनुष्य हो और मनुष्यों का आजाद रहना उनका जन्मसिद्ध अधिकार है, तो परिस्थितियां भले ही बन जाया करती हैं, पर मनुष्य क्या गुलाम रहने के लिए पैदा होता है ? उसे तो आजाद रहने का जन्मसिद्ध अधिकार है। जैनसिद्धान्त इससे बढ़कर बतलाता है कि वस्तु की आजादी होना सत्तासिद्ध अधिकार है। जन्म की बात तो जाने दो, वह तो ४०-५० वर्ष पहिले हुआ, पर हमारा आपका आजाद रहना तो सत्तासिद्ध अधिकार है कि हम आप स्वतंत्र हों।

कठिन संसर्ग में भी वस्तुत्व का अव्यय—निगोद अवस्था में जीव का कर्म का शरीर का कितना शोचनीय सम्बंध रहा, जिससे जीव का पता ही नहीं है कि है कि नहीं है। पृथ्वी भी जीव है पर उसके बारे में लोगों की श्रद्धा देर में होती कि जीव भी है। तो जहां जड़ जैसी अवस्था हो जाय, ऐसा शरीर धारण किया इस जीव ने, फिर भी जीव आजाद ही रहा। कठिन मेल के बावजूद भी जीव अजीव नहीं बन गया, अजीव जीव नहीं बन गया।

पराधीनता से पराधीनता का अभाव—भैया ! यह जीव पराधीन भी होता है तो स्वतन्त्रता से पराधीन होता है, परतंत्रता से पराधीन नहीं होता है। कोई मनुष्य किसी दूसरे जीव से राग करके या वह सुहा गया, उसके प्रति आकर्षण हुआ और उसके पराधीन बन गया तो वह अपनी कल्पना से अपने विचारों से अपनी ही ओर से अपने भीतर का भाव बनाकर ही तो पराधीन हुआ है, या उस दूसरे मनुष्य के हाथ पैर बंध गया क्या ? गांठ लग गयी क्या ? या कोई जबरदस्ती करता है क्या ? क्या कोई वस्तु किसी दूसरे वस्तु पर पराधीनता लादती है? नहीं लादती है। यह जीव

ही खुद स्वतंत्र होकर परतंत्र बनता है। तो यद्यपि इस विश्व में एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ निमित्त नैमित्तिकभाव है तिस पर भी प्रत्येक द्रव्य केवल अपने ही परिणमन में अपने ही परिणमन से परिणमता रहता है। किसी दूसरे पदार्थ के साथ इसका सम्बन्ध नहीं है।

मर्जी से बन्धन का अपनाना—अहा देखो तो भैया ! यह मोही जीव उचक-उचक कर खुद अपना ही भाव बनाकर विषयों में उलझता है और पराधीन बनता है। विषय इसे पराधीन नहीं बनाते। कभी भोजन ने आप पर जबरदस्ती की है क्या कि तुम खा ही लो हम बैठे हैं बड़ी देर से थाली में ? अरे यह जीव उचक कर ही स्वयं अपनी आजादी से राग के पराधीन होकर पहुंचता है। यह जीव पराधीन भी बनता है तो अपनी आजादी से पराधीन बनता है, किसी दूसरे की जबरदस्ती से पराधीन नहीं बनता है। बहाना करना दूसरी बात है।

अपराध छुपाने का बहाना—एक मनुष्य स्वसुराल जा रहा था, तो उसे रात्रि में दिखता नहीं था। शाम को स्वसुराल के गेबड़े में पहुंचा। तो उसे उस समय स्वसुर का बछड़ा मिल गया। उसने बछड़े की पूंछ पकड़ी। जहां वह बछड़ा जायेगा वहां ही स्वसुराल का घर है। बछड़े क पूंछ पकड़कर वहां पहुंच गया। जिससे लोग यह न कहें कि यह बेवकूफ है सो वह पूंछ से घसीटते हुए, रगड़ खाते हुए किसी तरह से पहुंचा। उसने एक बहाना बना लिया कि मुझे एक बछड़ा मिला था दहेज में सो वह दुबला हो गया है ? सो मुझे बछड़े का सोच है। यह उसने यों बहाना बना लिया कि कोई यह न जान पाये कि रात को दिखता नहीं है। जब देर हो गयी, भोजन बनाया। साले साहब आए, साली साहब आयी, सो यही कहे दामाद कि मुझे बछड़े का अफसोस है। तो हाथ पकड़कर ले जायेगी क्यों कि दिखता तो है नहीं। अजी तो क्या है ? दो एक महीने में तगड़ा हो जायेगा। तो पकड़ कर उन्हें खाना खिलाने ले गए। रसोई में बैठाल दिया। भूख तो लगी ही थी। सास ने दाल में घी कड़ाके का डाला। सोचा, घी को गरम किया। गरम घी डालने में छनछल सी आवाज हुई तो उसने समझा कि बिल्ली आ गयी है तो एक थप्पड़ मारा। उसको बड़ी शरम आयी कि अभी तक तो पोल ढकी रही। किसी तरह से अधपेट खाकर उठा, सो शर्म के मारे एक लठिया लेकर बाहर चला गया। जाते जाते क्या हुआ कि एक खाई खुदी हुई थी सो वह उस खाई में गिर गया। पहिले गौने में खुदी न थी, वह उसमें गिर गया। अब सुबह के समय सास गयी कपड़े धोने। छींट गिरे दो चार गालियां उसे दीं। बाद में देखा कि ये तो दामाद साहब पड़े हैं, उस पुरुष ने कहा कि मुझे तो बछड़े का सोच है। सारे ऐब ढाकने के लिए वह केवल एक

ही शब्द बार बार बोलता जाय।

दर्शनमोह महाअपराध छिपाने में चारित्रमोह का बहाना—भैया ! सो यहां मोह कर रहे हैं व्यर्थ का और कोई पूछे कि यह व्यर्थ का मोह क्यों है ? तो कहेंगे कि अजी मोह नहीं है, चारित्र मोह का उदय है। चाहे यहां श्रद्धा ही बिगड़ रही हो। कहेंगे कि हम क्या करें ? छोटे बच्चे हैं, इनको छोड़ कर हम जायें तो ये मारे मारे फिरेंगे और हमें लोग उल्लू कहेंगे। तो यह चारित्रमोह का उदय है। ऐसा एक शब्द मिल गया है सो अपने सारे ऐब उसी शब्द को कहकर छिपाते हैं। जो अपने को भूले हुए हैं उनकी अपने आप पर दृष्टि नहीं है।

जीव का ज्ञातृत्व—जीव अकर्ता है, इस रूप में अपने आपकी श्रद्धा हो जाय तो इस ज्ञानी के व्याकुलता नहीं रहती। व्याकुलता होती है काम करने के भाव की। जीव स्वभावतः अकर्ता है। इस प्रकरण में जीव को अकर्ता इस तरह से सिद्ध किया है कि जगत में प्रत्येक द्रव्य का परिणमन उस ही द्रव्य में तन्मय है, फिर कहां गुंजाइश है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का परिणमन कर दे। कोई भी पदार्थ अपने आपके स्वरूप से बाहर अपना परिणमन नहीं करता है। इस तरह यह बात निर्णीत होती है कि जीव का स्वभाव दीपक की तरह जगमग टिमटिमाते रहने का है। इससे बाहर इस जीव का कुछ फैलाव नहीं है। लेकिन अपने आपमें ग्रहणरूप फैलाव है।

जीव का विस्तार—जीव कितना बड़ा है ? इसे ज्ञान विषय की अपेक्षा कहा जाय तो यह लोक और अलोक में फैला हुआ इतना बड़ा है। स्याद्वाद के बिना जीवतत्त्व का यथार्थ निर्णय होना कठिन है। यह आत्मा ज्ञान की अपेक्षा लोकालोक प्रमाण है और यही आत्मा प्रदेश की अपेक्षा देहप्रमाण है। इन दोनों अंशों में यदि एक अंश को तोड़ दिया जाय और निरपेक्ष होकर कुछ माना जाय तो सिद्धि नहीं होती है। ज्ञानविषय की अपेक्षा व्यापक है, इस बात को न माना जाय तो जीव क्या रहा ? अचेतन सा रहा और जीव देहप्रमाण है यह नहीं है और एकांततः यह आत्मा सर्व व्यापक है। तो हम क्या रहे और हम कहां से निकले, क्या सत्ता है ये सब अंधेरे में बातें रहती हैं। यों तो श्रद्धा के कारण जो जहां आगम में लिखा है वैसा माना जाता है, पर चित्त में उतरे, अनुभव जगे, ऐसी बात प्रमाण द्वारा निर्णय हुए बिना दिल में नहीं उतरती है। यह आत्मा इतना विस्तृत है कि जिसकी स्फुरायमान चैतन्यज्योति में ये सारा तीन लोक रूपी आँगन छुरित हो गया है। सारे लोक में उसका फैलाव हो गया है।

विवेक की आवश्यकता—यह आत्मा विशुद्ध है, केवल जानकर रह जाता है, ऐसा इसका स्वभाव

है। आकुल व्याकुल होना जीव का स्वभाव नहीं है, फिर भी यहां जो बन्धन देखा जा रहा है कर्मों के साथ और अपने रागादिकों के साथ यह सब अज्ञान की ही विकट महिमा है। जीव हम और आप सब स्वभाव से ज्ञानमय हैं और आनन्द स्वरूप हैं। पर अज्ञान के कारण एक अँधेरा छा गया है। कैसा विकट अज्ञान कि यह जीव घर के दो चार लोगों से बँध जाता है कि जो कुछ हमारा श्रम है, जो कुछ हमारा उद्यम है, जान है वह सब इनके लिए है। और कषाय के आवेश में मोह और तृष्णा से अनुरक्त होकर अपना जीवन खोखला कर डालता है। हालांकि है यह गृहस्थावस्था, पर विवेक तो सब जगह होना चाहिए। ऐसी सावधानी बनाए रहो कि अपने आपका भान बना रहे और परपदार्थों का ऐसा लोभ न रहे कि आवश्यकता होने पर भी अपने लिए या पर के लिए सदुपयोग नहीं किया जा सके।

भाग्य का पीछे लगा रहना-गुरु जी सुनाते थे कि 'मड़ावरा में उनका ही एक मित्र था, जिसका नाम था रामदीन। सो वह ऐसा उदार था कि जितना मिल सके पिता से ले लेकर, जिसे चाहे बांटना, खिलाना पिलाना, गरीबों को कुछ न कुछ देना, यह उसकी आदत थी। तो जब बहुत बहुत खर्च करने लगा तो पिता ने कहा बेटा, हमने हजार दो हजार रुपये रख रखे हैं तुम्हारे विवाह के लिए, ये काम आर्येंगे। बोला कि जो होगा देखा जायेगा। पहिले जो हमारी इच्छा हैं और जिस तरह हमारा उदारता में चित्त जा रहा है पहिले वह काम होने दो। एक ही वह लड़का था सो रामदीन की बात भी रखनी पड़ती थी। बाप जो दे सो खर्च कर दे। अब कुछ घर में न रहा, तो सोचा कि अब रामदीन बड़ी उदारता से दीन दुखियों को खिलाता पिलाता था अब वह गरीब बनकर न रहेगा। गांव छोड़ दिया। पहुंच गया बनारस । वहां जाकर एक महंत की सेवा में रहने लगा। भाग सुधरे। महंत ने रामदीन को अपनी गद्दी दे दी। जब बनारस में गुरुजी जा रहे थे तो सामने से हाथी पर चढ़ा हुआ रामदीन महंतसाही के साथ आ रहा था। तो हाथी से उतर कर गुरुजी से मिलकर कहा कि क्या हमें आप जानते हैं कि हम कौन हैं ? थोड़ी देर में कहा कि क्या तुम रामदीन हो? कहता है कि अब मैं रामदीन नहीं हूँ । अब तो जो हूँ । सो हूँ ।

परिस्थितियां—भैया ! पुराणों में भी देख लो—श्रीपाल का भाग्य था ना तो देश से भी निकल गए पर ज्यों के त्यों अमन चैन से रहे। कितने ही राजा किसी कारण देश से पृथक हो गए मगर उनका भाग्य था सो दूसरे देश के राजा बन गए। ऐसा अनेक पुराणों में आता है। और जिसके पाप का उदय आता है तो कितना ही कोई उसकी रखवाली करे, उसकी रक्षा का यत्न

करने पर भी वह सब बेकार जाता है तो चिंता करना है अपने श्रद्धा ज्ञान और आचरण की, बाह्य की चिंता से कुछ बनता नहीं है। इसलिए उस चिंता में क्या दिमाग उलझाना, साधारणतया कर्तव्य समझ कर उसे करना। तो अपना जो मुख्य ध्येय हैं उसको छोड़कर जो बंधन में पड़ गया है जीव, यह सब उसके अज्ञान की कोई गहन महिमा है।

अकर्तृत्व—यहां बात क्या बतायी जा रही है कि अपना सर्व विशुद्ध स्वरूप देखो, सही स्वरूप देखो। यह मैं आत्मा धन वैभव से जुदा हूँ , उनका कुछ करने वाला नहीं। शरीर से जुदा हूँ , शरीर का भी करने वाला नहीं। और जो कर्म बँधते हैं उन कर्मों से जुदा हूँ , उन कर्मों का करने वाला नहीं हूँ । और जो रागादिक विभाव होते हैं उनसे जुदा हूँ और उनका भी करने वाला नहीं हूँ , जो होता है वह निमित्त पाकर हो जाता है, पर भावों का करने वाला मैं नहीं हूँ । और जो भी शुद्ध परिणमन चलता है चलेगा, जीव के स्वभाव के कारण पदार्थ के द्रव्यत्व गुण के कारण होता है, होगा, उनका भी करने वाला मैं नहीं हूँ । एक दूसरे का कर्ता नहीं है और एक एक का करना क्या ? इसलिए 'करना' शब्द अध्यात्मशास्त्र में कुछ मायने नहीं रखता है।

अकर्तृत्व का एक दृष्टांत द्वारा समर्थन—जैसे रस्सी पड़ी है और लाठी के द्वारा उस रस्सी को गोल-गोल कर दें। अब देखते जाना । इस लाठी ने रस्सी का क्या काम किया ? लाठी कितनी है ? जितना कि उसका विस्तार है। मोटी है, लम्बी है, उस लाठी ने अपने आपमें अपना घुमाव किया। लाठी से बाहर जो रस्सी है उस रस्सी में लाठी का कोई अंश नहीं गया, कोई परिणति नहीं गयी, कुछ नहीं गया। इस कारण व्यवहारी लोग व्यवहार से ही ऐसा कहते हैं कि लाठी ने रस्सी को गोल कर दिया। लाठी ने तो लाठी को ही इस तरह चलाया। उसका निमित्त पाकर रस्सी भी मुड़ गयी। तो एक दूसरे को करे क्या और एक एक को करे क्या ? कोई किसी लाठी को खूब घुमाये तो इस अकेले ने अपने से ही अपने को विकल्प रूप किया और वहां निमित्तनैमित्तिक परम्परावश लाठी ने अपने को खूब घुमाया । अरे वह अकेला एक ही है पुरुष, उसने क्या किया ? ऐसा परिणाम किया। अतः करना शब्द व्यवहारी लोगों की भाषा है, करता कोई कुछ नहीं है।

आत्मगौरव—भैया ! जीव को अकर्ता के रूप में देखें तो वहां सर्व विशुद्ध आत्मा के मर्म का ज्ञान होता है। इस मर्म का जिन्हें पता नहीं है वे बाहर में संयम और त्याग करके भी अहंकार का पोषण करते हैं और अहंकार जितना है वह सब विष है। किस पर घमंड होना, काहे का अहंकार करना ? गौरव करें तो अपने ज्ञानानन्द स्वभाव का गौरव करें, लोगों पर रोब जमाने

का गौरव करें तो वह अहंकार में शामिल हैं। मैं आचरण से न गिर जाऊँ, मैं श्रद्धान से न गिर जाऊँ, ऐसा अपने आप में अपना गौरव रखना है। इसे कहते हैं वास्तविक गुरुता और लोग मुझे जानें, इसे नाक वाला, इस नाक आँख कान की मुद्रा को लोग हल्का न समझ जायें, कुछ नहीं किया, कोई ऐसा बेकार सा न समझ जाय, इसके लिए अपना प्रभाव जताना, यह तो आत्मगौरव में नहीं है, किंतु यह अहंकार में है। भैया ! इस लोक में बड़े-बड़े पुरुष नहीं रहे, राम, रावण, हनुमान तीर्थंकर कोई पुरुष यहां नहीं रहा, कोई मुक्त हो गया, कोई स्वर्ग गया, फिर किस बात पर गर्व करें ? कौनसी चीज यहां सारभूत मिली ? एक कल्पना द्वारा मान रहे हैं, यह मेरा है, यह मेरा है । मोही-मोही हैं ना, सो दूसरे भी कहते हैं, हां हां यह हमारा, यह तुम्हारा है। कोई तीसरा हो तो बतावो कि यह तुम्हारा है कैसे ?

मूँछमक्खन का शेखचिल्लीपन—एक पुरुष था जिसका नाम था मूँछ-मक्खन। ऐसा भी नाम कभी सुना है क्या? हुआ क्या कि किसी श्रावक के यहां मट्ठा पीने गया। मूँछ उसके बहुत बड़ी थी। सो जो मट्ठा पिया और पीने के बाद मूँछ में हाथ फेरा तो कुछ मक्खन का कण हाथ में आ गया। उसने सोचा कि और रोजगार में तो शंका रहती है सो रोज १०-५ बार श्रावकों के यहां जाएं, मक्खन पीवें और मूँछों में हाथ फेर कर मक्खन इकट्ठा कर लें तो इस तरह से कुछ ही दिनों में काफी घी इकट्ठा हो जायेगा। सो वह दसों जगह जावे, मट्ठा पीवे और मूँछ पर हाथ फेरे। मक्खन जोड़ता जाय वह एक डब्बे में। साल डेढ़ साल में उसने २, ३ सेर घी जोड़ लिया।

मूँछ मक्खन का इन्द्रजाल—अब जाड़े के दिन थे। माघ का महीना था, झोंपड़ी में वह रहता था। उसी झोंपड़ी में वह घी का डब्बा लटक रहा था। सो एक दिन वह सोचता है कि कल के दिन यह घी बेचूंगा तो मिल जायेंगे ५-७ रुपये। और उससे फिर एक बकरी खरीद लूंगा। उसके बच्चे, घी दूध आदि बेचकर एक गाय ले लेंगे। फिर भैंस ले लेंगे। फिर बैल ले लेंगे, फिर जमीन ले लेंगे, जमीनदार हो जायेंगे, फिर मकान बनवायेंगे, शादी करेंगे, बच्चे होंगे कोई बच्चा कहेगा कि चलो मां रोटी जीवने को बुलाया है। तो कहेंगे कि अभी नहीं जायेंगे। अपने आप कह रहा है मन में। फिर बच्चा आयेगा, कहेगा कि चलो मां ने रोटी खाने को बुलाया है, वह भूखी बैठी है, तो कहेंगे कि अभी नहीं जायेंगे। तीसरी बार कहेगा तो इस तरह से लात फटकारकर मार देंगे और कहेंगे कि अभी नहीं जायेंगे। सो आवेश में आकर लात फटकार दी। वह लात उसकी घी के डब्बे में लग गयी। नीचे आग जल रही थी। झोंपड़ी जल उठी।

मूँछमक्खन का और परिग्रहियों के समान रूदन—अब वह बाहर जाकर रोता है, अरे भाई हमारा मकान जल गया, हमारे बच्चे जल गए, हमारे गाय बैल जल गये, हमारा सारा

वैभव खत्म हो गया। देखने वाले लोग कहते हैं कि अभी कल तक तो इसके मकान न था, स्त्री बच्चे न थे, कुछ भी न था, भीख माँगता था और आज कहता है कि मेरे ये सब जल गए। पूछा कि भाई कैसे जल गए ? उसने अपनी सारी कहानी सुनाई। किसी सेठजी ने कहा कि अरे कुछ जल तो नहीं गये हैं, तू कल्पना करके ही तो रो रहा है। वहाँ एक विवेकी पुरुष खड़ा था, उसने समझाने वाले सेठजी से कहा कि जैसा यह कहता है वैसा ही तो तुम भी कहते हो। कल्पना करके यह मेरा है, यह मेरा है ऐसा कहते हो और दुःखी होते हो, पर तुम्हारा कुछ है नहीं। तुम्हारे निकट जरूर है, मगर तुम्हारा है कुछ नहीं और तुम जिसे मानते हो कि यह मेरा है वह तुम्हारे निकट भी रहने को नहीं है। सेठजी तुम्हारा यह मानना मिथ्या है कि यह मेरा है। यदि ऐसा तुम मानते हो तो तुम्हारे में और इसमें क्या अन्तर है ?

पर्यायबुद्धि से क्लेशप्रवाह—तो यह जीव कल्पना करके अपने को नाना परिणतियों रूप मानकर अहंकार रस में डूब रहा है। यह सब अज्ञान की महिमा है। भीतर देखो मर्म में यह माया जाल कुछ नहीं पाया जाता है। बड़े-बड़े शास्त्र ज्ञान करके देखने से लगता है कि यह तो कुछ भी बात नहीं। और लोगों ने इतनी बात भुला रखी है कि वह तो केवल ज्ञानानन्दस्वरूप है। प्रभु की प्रभुता इस बात में ही है कि वह ज्ञाता तो रहे समस्त विश्व का परन्तु निज आनन्दरस में ही लीन रहे। भ्रम न आए। बाह्य पदार्थों से ज्ञान और सुख मानने का उसे विश्रय कभी न बैठेगा, ऐसी प्रभु में त्रिकाल सामर्थ्य रहती है। ऐसा ही स्वरूप अपना है। पर अपने को जाने बिना हम दुःखी हो रहे हैं।

सिंह की अंधेरी से भयभीतता—आजकल चैत का ही तो महीना है। इस मौसम का एक कथानक है कि कहीं गेहूँ कट रहे थे। सो किसान मालिक नौकरों से बोला कि जल्दी काटो-जल्दी चलो, अंधेरी आने वाली है। अंधेरी कैसी है ? अरे तुम जानते हो, मैं जितना शेर का डर नहीं है उतना डर अंधेरी का है। यह बात सुन लिया शेर ने। अब वह शेर डरा कि मुझसे भी कोई बड़ी अंधेरी होती है। यह किसान मुझसे जितना नहीं डरता उतना डर इसे अंधेरी से है। अंधेरी मुझसे भी कोई बड़ी चीज है। ऐसा सोचकर वह शेर डर कर बैठ गया। उसी दिन एक कुम्हार का गधा खो गया था, सो वह अपना गधा दूँढते-दूँढते उसी शेर के पास पहुँच गया। सोचा कि यह गधा है सो उसे दो एक गाली देकर उठाया। दो एक डंडे भी जमाए। और कान पड़कर लेकर चल दिया अब सिंह ने समझ लिया कि आ गई अंधेरी सो अंधेरी के डर के मारे कुम्हार मनचाही तरह से कान पकड़ कर ले गया। शेर वहाँ डरता-डरता चला गया। रात के समय शेर को बाँध दिया।

अंधेरी का विनाश—जब सुबह हुआ व अंधेरी न रही, उजेला हुआ तो शेर देखता है कि अरे मैं कहां वनराज और कहां गधों के बीच में। एक बड़ी दहाड़ मारी तो पास में बँधे हुए सब गधे वगैरह घर में घुस गए और वह छलांग मारकर जंगल में पहुंच गया। सो ऐसा लगता है कि अंधेरी है कुछ नहीं। केवल कल्पना की अंधेरी है। कोई किसी को खिलाता पिलाता है क्या ? कोई किसी का अधिकारी है क्या ? सब जीवों के अपने-अपने कर्मों का उदय है। और अपने-अपने उदय के अनुसार अपना-अपना कार्य करते हैं।

पर का पर में अकर्तृत्व—अच्छा बतलावो एक मिल में यदि हजारों नौकर काम करते हैं तो नौकर मालिक की सेवा कर रहा है, चाकरी कर रहा है या मालिक उन सब हजारों नौकरों की चाकरी कर रहा है ? अरे कथंचित् मालिक हजारों नौकरों की चाकरी कर रहा है, उन्हें आजीविका से लगाए है, उनकी खबर रखता है सो वह हजारों नौकरों की चाकरी करता है और वे हजारों नौकर मालिक की चाकरी करते हैं ऐसा तो दुनिया ही देखती है। वस्तुतः कोई किसी अन्य का कुछ नहीं करता है। जिनका जितना जो उदय है उस उदय के अनुसार उसका कार्य चलता है। यह सोचना भ्रम है कि मेरे पर बड़ा बोझ लदा है और मुझे बड़ा संचय बनाए रहना चाहिए। ये सब बातें बिल्कुल व्यर्थ की हैं, जो होने को होता है वह स्वयं होता है।

सम्पदा के आगमन व निर्गमन की पद्धति का अप्रकटपना—लक्ष्मी आती है तो पता नहीं पड़ता कि कहां से आती है और जब लक्ष्मी जाती है तो पता नहीं पड़ता कि कहां से जाती है ? जैसे नारियल के फल के अन्दर पानी होता है ना, अच्छा बतावो पानी कहां से उसके अन्दर घुस गया ? बड़ा कठोर तो उसका ढक्कन है। जब उसे किसी चीज से फोड़ा या पत्थर पर पटको तो मुश्किल से फूटता है। ऐसे कठोर ढक्कन वाले नारियल में यह पानी कहां से आ गया ? और हाथी केंथ खा लेता है, जब तो खूब दलदार वजनदार केंथ खा लिया। अब पेट से उसकी लीद के साथ जब केंथ निकलता है तो पूरा का पूरा निकलता है। न उसमें छेद मिलेगा, न उसमें दरार मिलेगी और उठाकर देखो तो उस केंथ की खोल लगभग डेढ़ तोले के वजन की निकलेगी और कहां तो वह था कोई पखभर का। बताओ वह रस कहां से निकल गया। न वहां छिद्र दिखता है, न वहां दरार दिखती है तो जैसे उस केंथ का सारा सार निकल गया, कुछ पता नहीं पड़ा, इसी तरह जब लक्ष्मी जाती है, निकल जाती है तो पता नहीं होता है और जब आती है तो पता नहीं होता है। इसका क्या सोचना ?

पुण्य पाप के उदय का परिणमन—एक सेठ का नौकर था। सो हवेली के नीचे कोठरी में रहता था। उसे एक दोहा बड़ा याद आता था—होंगे दयाल तो देंगे बुलाके। कौन जायेगा लेने देंगे

खुद आ के।। दसों बार वह यही दोहा गाये। एक रात सेठ की कोठरी में कुछ चोरों ने छेद कर दिया। जब भीत कुछ फटी और जाना कि चोरों ने यह उद्यम किया तो वहीं बैठे-बैठे कहता है कि देखो स्वसुरे यहां तो सिर मारते हैं और फला ने तालाब के बड़ के नीचे जो असर्फियों का हंडा गड़ा है उसे खोद नहीं लेते। चोरों ने सोचा कि ठीक कह रहा है, चलो खोदें तो मिले असर्फियों का हंडा। उस हंडे पर तवा जड़ा था। खोदा तो तवा निकला। कुछ ततैयों ने उन्हें काटना शुरू किया। चोरों ने सोचा कि वह बड़ा चालाक निकला। ततैयों से हमें कटा दिया। सोचा कि इस हंडे को ले चलो और उसकी कोठरी में डाल दो। हंडा ले गए और उसकी कोठरी में उसी छेद में से उड़ेर दिया, सब असर्फी उसके कोठे में आ गई। तो वह दोहा कहता है कि—होंगे दयाल तो देंगे बुलाके। कौन जायेगा लेने देंगे खुद आके।

नरजन्म का प्रयोजन धर्मपालन—भैया ! चिंता काहे की है? न लाइलोन पहिनो तो मोटे ही कपड़े सही। बिगड़ता क्या है ? और न पहिने कान के ततैया बिच्छू तो उससे क्या बिगड़ गया सो बतलावों। और आजकल की शोभा तो बिना आभूषण के रहने में है। बिगड़ा क्या बतलावो ? न रसगुल्ले खाये, सीधी दाल रोटी से पेट भर ले तो उसमें क्या बिगड़ गया ? हम आप सब जो जन्मे हुए हैं सो केवल धर्म के लिए जन्मे हुए है। एक धर्म का ही सारा सच्चा सहारा है, न हुआ लाखों का धन तो क्या बिगड़ा ? जो उदय के अनुसार आपके पास हो, बस, स्वपर के उपयोग के लिए विवेकपूर्वक व्यय करते रहो। क्या चिंता है? जीवन अच्छा गुजारो और प्रभु से अपना स्नेह लगावो और ज्ञान में अपना समय बितावो। मर जायेंगे तो कम से कम अगला भव तो अच्छा हो जायगा। यहां के लोग क्या साथ निभायेंगे ?

हितरूप उपदेश—सो भैया ! ऐसा चित बनावो कि किसी चीज की परवाह नहीं है। जो होगा उसको देखेंगे और जमाना भी बड़े संकट का है। कुछ पता किसी को तो है नहीं कि क्या से क्या गुजरता है ? जो होगा सो देखा जायेगा। पर वर्तमान विवेक तो न त्यागो। धर्म का और ज्ञान का संचय तो न त्यागो। सो ऐसा ही साहस बनाए कि उदय के अनुसार तो है आजीविका और हिसाब, किंतु अपने पुरुषार्थ के अनुसार है एक आत्मकल्याण। सो आत्महित के अर्थ अपना पुरुषार्थ ज्ञान कमावें और धर्म का पालन करे। ऐसा जीवन व्यतीत हो तो उसके कुछ हाथ लगेगा।

स्वरूपविस्मरण का परिणाम—यह जीव यद्यपि अपने स्वरूप से चैतन्यमात्र है, प्रभुवत ज्ञान और आनन्द का पिटारा है, किंतु अनादि काल से कर्म उपाधि के संयोग में रहकर

यह अपने स्वरूप को भूलकर नाना प्रकार के शरीरों के भेष लादे-लादे फिर रहा है। जगत के शरीरों पर दृष्टि दो तो पता होगा कि हम किस-किस प्रकार के कष्टों में अभी तक रहे हैं ? जगत में दिखने वाले जीवों के कष्ट देखें घोड़ा, ऊँट, पशु, बैल इन पर मनुष्यों की कैसी दृष्टि रहती है। जब तक इनसे कुछ स्वार्थ निकलता है तब तक ही उन्हें रखते हैं घर पर । जब बूढ़े हो गए, उनसे कोई स्वार्थ नहीं निकलता तब उन्हें जहां चाहे बेच डालते हैं, चाहे उनकी कोई हत्या भी कर दो। जब तक उन्हें पालते भी हैं लादते हैं तो बहुत बोझ लादते और कोड़ों से मार मार कर उन्हें जोतते हैं। हम आपको कोई एक गाली भी दे दें तो एक गाली भी नहीं सहन कर सकते। उस गाली को सुनकर इतनी परेशानी हो जाती है कि बाण की तरह हृदय भिद जाता है और उससे बदला लेने की रात दिन सोचा करते हैं। एक गाली के ही सुन लेने पर हम आप पर ऐसा प्रभाव हो जाता है कि रात दिन चैन नहीं आती है। तो भला बतलावों जिन पशुओं पर छुरी चलाई जाती है, जिन पशुओं को कोड़ों से पीटा जाता है ऐसे उन पशुओं के दुःखों का क्या ठिकाना ? किसकी कहानी—वे पशु और कोई नहीं हैं। हम और आप भी ऐसे ही कभी थे। कितनी ही तरह ने जीव है। यह तो है सामने दिखने वाले जीवों की कहानी। भला कीड़े मकोड़ों को देखकर, बचा बचाकर कौन चलता है बल्कि कुछ लोग जूतों से रगड़कर देखते हैं कि यह किस तरह से तड़फता है और बेदर्द होकर जो चाहे जूतों से रगड़कर मार डालते हैं। रेशम के कपड़े बनाए जाते हैं। रेशम के कीड़े खौलते हुए पानी की कड़ाही में डाल दिए जाते हैं और वे जब मरते हैं तो अपने मुख से तार छोड़ते हैं । उन तारों का संग्रह करते हैं। उनसे रेशम बनता है। जो रेशम के कपड़े बड़ी रूचि से आप पहिनते हैं और खरीदते हैं। मंदिरों के लिए भी कि उसके ऊपर का चंदोवा अच्छा लगेगा, अगल बगल के पर्दे अच्छे लगेंगे, वे रेशम के कीड़ों से बनते हैं। कितने ही जीवों की हिंसा होती है, उनके मुंह से तागा निकलता है। उसी रेशम से ये कपड़े बनाए जाते हैं। भला जो स्वयं रेशम का कीड़ा है वही उस दुःख को जान सकता है। यहां तो खौलते हुए पानी का एक बूंद ही हाथ पर पड़ जाय तो कितनी परेशानी हो जाती है और यदि दूसरे से गलती से गिर जाय तो उससे कितना लड़ने लगते हैं? यह है रेशम के कीड़ों की दुर्दशा। यह सब किसकी कहानी है? हम आप सबकी कहानी है।

एकेन्द्रिय व विकलत्रिक अवस्था में दुर्दशा—तो जगत में कितने प्रकार के जीव हैं ? इस जगत में अनन्तानन्त जीव हैं। वे सब दुःख हम आपने भोगे। जब जमीन हुए थे तो लोगों ने खोद-खोदकर मिट्टी काढा था, पत्थर को खोदकर सुरंग से फोड़कर इस जीव की हत्या की थीं।

क्या हम आप कभी जल के जीव नहीं हुए थे ? प्रायः हुए थे। लोगों ने जल को गरम करके खोला करके अग्नि में डाल करके इस जीव को मार डाला था, हम आप अग्नि हुए तो राख से दबोच कर व पानी डालकर बुझा दिया था। यह सब अपनी ही कहानी चल रही है। हम आप कभी हवा भी हुए थे। देख लो हवा की क्या हालत है ? उसे रबड़ में रोक दिया और मुंह बंद कर दिया। अब भरी रही, वहीं पड़ी-पड़ी हवा मर जाती है। हवा को भी हवा न मिले तो वह जिन्दा नहीं रह सकती है। यह जीव वनस्पति हुआ तो वनस्पति को भी भेदा, छेदा। क्या-क्या नहीं हुआ इस जीव को ? विकलत्रय हुआ तो उनकी कौन परवाह करता है ?

पशुगति में असह्य्य दुर्दशा—पशुओं को लोग खाने तक लगे हैं। उन्हें जिन्दा भी लोग आग में डाल देते हैं। जो मांसभक्षण करते हैं उनके क्या दया ? छुरी से उनकी हत्या कर डालते हैं और या तो उन्हें आग में भून कर खा डालते हैं। मांस खाने की एक खोटी आदत है। उन्हें क्या परवाह है। इसी तरह पशुओं की बात देखो—सूकरों को भाले से छेदकर गिरा देते हैं और धर्म का नाम भी लेकर जहां चाहे बलि कर डालते हैं। तो ऐसी-ऐसी दुर्दशा भोगी हम आपने।

वर्तमान सुयोग का सुयोग—उन सब दशाओं के समक्ष आज विचार करते हैं तो हम और आपने कितना ऊँचा सौभाग्य पाया, कितना दुर्लभ नरजीवन पाया, अपने मन की बातों को दूसरों को सुना सकते हैं, दूसरों के मन की बातों को अपन सुन सकते हैं, समझ सकते हैं। ऐसा ऊँचा भव प्राप्त किया और कुल भी श्रेष्ठ पाया, धर्म भी श्रेष्ठ पाया। जहां आत्मा की सावधानी रह सके, जहां अहिंसा का अपने व्यवहार में बर्ताव किया जा सके, ऐसा श्रेष्ठ धर्म भी प्राप्त किया। वीतरागता का जहां पोषण मिल सके। जिससे वास्तविक शांति और अनाकुलता उत्पन्न होती है। तो बतलावो इतना उत्कृष्ट समागम पाकर भी हम आप कुछ न चेतें, मोह-मोह में ही रहे, जिन्हें गुजर जाना है, जिनका वियोग हो जाना है उनको ही अपना सर्वस्व मान मानकर यह जिन्दगी बिता दी तो भला बतलावों तो सही कि कुछ शांति भी कहीं पावोगे ? जो शांति का घर है ऐसे प्रभु की भक्ति में मन नहीं लगाया जाता है, शांति का खजाना भरा है, ऐसे निज ज्ञायक स्वरूप में उपयोग न पाया तो फिर भला बतलावो कि पावोगे कहां शांति ?

सम्यक्ज्ञान का आदर—भैया ! ये मलिन जीव जो स्वयं बेचारे असमर्थ हैं, विवेक रहित हैं उन मलिन जीवों पर हम कुछ आशा लगाएं कि इससे आनन्द मिलेगा यह बड़ी भूल है। सुख और शांति चाहना है तो आवो वीतराग सर्वज्ञदेव परमात्मा के गुणों के स्मरण की छाया में। शांति चाहते हो तो आवो अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूप के स्मरण में। इन दो ठिकानों के अलावा तीसरा कोई ठिकाना ऐसा नहीं है जहां आप शांति प्राप्त कर सकें। तो भाई अब अपने स्वरूप की ओर

निहारो और ममता कम करो। यह नहीं कहा जा रहा है कि आप लोग अभी अपना घर छोड़ दें या रोजगार छोड़ दें, परघर का मुंह तर्के। यह बात नहीं कहीं जा रही है, किंतु ज्ञान की बात ज्ञान से करने में कौन से आलस्य का प्रश्न है ? रह रहे हो घर में रहो, जो काम कर रहे हो करते रहो किंतु इतना ज्ञान बनाए रहने में इस आत्मा को कौनसी तकलीफ हो रही है? समझ जावो कि जगत के सभी जीव एक समान हैं। यहां न मेरा कोई है और मुकाबलेतन कोई पराया है। स्वरूप की दृष्टि में सब मेरे ही समान हैं। और व्यक्ति की दृष्टि में सब मेरे से अत्यंत भिन्न हैं।

पर से रक्षा की मान्यतारूप संकट—भैया ! यही तो बड़ी आपत्ति है। जो आपको इन अनन्त जीवों में से एक दो जीवों को अपने सिर पर रखना पड़ रहा है। इसी में अपना हर्ष मानते हैं, यही तो आपत्ति है। ये अधुव हैं, इनमें उपयोग लगाया ये ही संकट हैं जिससे ऐसा दुर्लभ नरजीवन पाया वह यों ही गंवाया जा रहा है। सत्य ज्ञान बनाने में आपको कौनसी परेशानी है। जानते रहो—सभी जीव मुझसे अत्यंत भिन्न हैं। एक भी जीव मेरा नहीं है। इस शरीर रूपी मंदिर में विराजमान यह मैं कारण परमात्मा स्वयं ज्ञानानन्द से परिपूर्ण हूँ । इसे कोई कष्ट नहीं है। इसको दूर करने के लायक कोई काम नहीं है। बाहर में कुछ किया नहीं जा सकता है। यह मैं अपने आपमें ही कुछ करता हूँ , कुछ भोगता हूँ , किसी भी प्रकार रहता हूँ । अपने आपमें ही मैं रहता हूँ , किसी परपदार्थ में मेरा कोई परिणमन नहीं चलता। ऐसा जानकर हे आत्महित चाहने वाले जीवों ! अब उस ज्ञान की रफ्तार में कमी न करनी चाहिए। और चिंता भी क्या करें ? चिंता तृष्णा से हो जाया करती है। तृष्णा का भाव नहीं रखें तो कोई चिंता नहीं। कष्ट तो वर्तमान में कुछ है ही नहीं। मगर तृष्णा का जो परिणाम लगा है उससे चिंता बनाते हो और उससे कष्ट मानते हो। तृष्णा को छोड़ो।

तृष्णा के अभाव का परिणाम—एक बार देश में कुछ अन्न की कमी हो गयी, अकाल पड़ गया। दो पड़ोसी थे। एक पड़ोसी के पास तो ग्यारह महीने का अनाज इकट्ठा हो गया था और एक पड़ोसी के पास एक महीने का अनाज इकट्ठा था। ११ महीने के अनाज वाला मन में सोचता है कि एक साल कैसे गुजरेगा ? हमारे पास तो ११ महीने का ही अनाज है। सोचा कि ऐसा करें कि पहिले एक महीना अनशन रख लें। न खा करके पहिला महीना गुजारें, फिर ११ महीने बड़े आराम से रहेंगे। दूसरे पड़ोसी ने सोचा कि हमारे पास एक महीने का अनाज तो है, इसे सुख से खायें, बाद में जैसा भाग्य होगा वैसा सुयोग मिल जायेगा। चिंता किस बात की ? उस एक महीने के अनाज वाले ने एक महीना सुख से गुजारा और इस ११ महीने के अनाज वाले ने १ महीना अनशन तो क्या करे ३ दिन में टांय-टांय बोल गया। अब क्या था ? ११ महीने के अनाज

का भी उपयोग उस एक महीने के अनाज वाले ने कर लिया। तो भविष्य की चिंता बनाकर वर्तमान में पाये हुए आराम को भी नहीं भोगना चाहते हैं। और चिंता करके गुजारा करने से धर्म से भी विमुख रहते हैं और शांति से भी विमुख रहते हैं।

सुख का ज्ञान से सम्बंध--भैया ! जरा सोचो तो जिसके पास एक लाख का धन है, कदाचित् १ हजार का टोटा आ जाय, ९९ हजार रह जाए तो वह एक हजार पर दृष्टि देकर दुःखी होता है। हाय, हाय, एक हजार नहीं रहा। उस १ हजार पर दृष्टि देकर ९९ हजार का सुख वह नहीं ले पा रहा है और एक मनुष्य एक हजार का ही धनी था और उसे १ हजार और मिल गए तो वह खुश हो रहा है, धर्म कर्म की भी याद कर रहा है, शांति से अपना जीवन भी बिता रहा है। वह सुखी है। तो धन से सुख नहीं होता है। एक निर्धन पुरुष अपने विचार उत्तम रखता है, तृष्णा से दूर रहता है वह सुखी है और एक करोड़पति पुरुष भी एक अपने धन की रक्षा की चिंता में और वृद्धि की चिंता में रात दिन परेशान रहता है। सो सुख शांति का सम्बंध धन से नहीं है। अपना मन्तव्य आप ऐसा न बनाए कि धन अधिक रहेगा तो मुझे सुख रहेगा। सुख का कारण ज्ञान है, विवेक है। विवेक है तो सुख प्राप्त होगा और अविवेक है तो वहां सुख नहीं मिल सकता।

अविवेक में अपराध—भैया ! अविवेक में यह जीव क्या करता है? अपराध तो अनेक करता है, पर उन सब अपराधों को संक्षेप में संग्रहीत किया जाय तो वे अपराध तीन होते हैं। पहिला अपराध तो पर को आपा मानना और पर को अपना मानना, अहंभाव और ममता भाव, अज्ञान भाव। हैं नहीं अपन के और कल्पना कर लिया-मेरा है, लो बस दुःख हो गए। किसी के ससुराल में साला नहीं है, सास के एक ही लड़की है, तो अब दामाद खुश हो रहा है, अब तो यह सब धन मेरा है और कदाचित् सास के लड़का हो जाय तो उसी दिन से कल्पना में आ गया कि अब तो हमें न मिलेगा। पहिले कल्पना करके आनन्द मान रहा था, अब कल्पना करके दुःखी हो रहा है। सोना जिसके घर में है, आज दिन १४० का भाव होगा तो हिसाब लगाकर अपनी हैसियत समझते हैं, और कुछ समय बाद भाव कम हो गया तो दुःखी हो गए, हाय मेरा धन कम हो गया। हालांकि कभी उसे बेचना नहीं था, सास बहू के पहिनने का गहना था, फिर भी कल्पना में धनी और निर्धनता की बात आ जाने से हर्ष और विषाद मानने लगते हैं।

अज्ञानी की उन्मत्त दशा—पागल जैसी दशा इस अज्ञान अवस्था में हो जाती है। जैसे कोई नदी के निकट पागल बैठा हो, वहां से बहुत से मुसाफिर गुजर रहे हों, सो किसी को नहाना या पानी पीना था, मोटर में आए, खड़ी कर दिया, पानी पीने चल गए। पागल मानता है कि यह

मेरी मोटर आ गयी। वे तो पानी पीने के बाद मोटर में बैठकर चले जायेंगे। अब पागल सिर धुनता है कि हाय मेरी मोटर चली गयी। इसी तरह यह है पृथ्वीकाय चीज रुपया पैसा, लेकिन अब तो वनस्पतिकाय के भी रुपया पैसा होने लगा है। कागज के रूपये बनते हैं। तो ये पृथ्वीकाय और वनस्पतिकाय ये दाम पैसा अपन सदा रखते हैं और कदाचित् जीवों के उदयानुसार यह रुपया पैसा आता रहता है। आया और गया। अब यह रुपया पैसा जब आता है तब यह जीव अपने को मानता है कि मैं बड़ा हो गया हूँ और जब चला जाता है सब कुछ तो अपने को मानता है कि मैं हल्का हो गया हूँ। यह मान्यता है। यह पता नहीं है कि उसका विकल्प करने से क्या होता है? उदय अनुकूल है तो न जाने कहां-कहां से यह लक्ष्मी आ जाती है, और उदय प्रतिकूल है तो किस किस उपाय से नष्ट हो जाती है।

दौलत—इस लक्ष्मी का नाम दौलत है। बोलते हैं ना उर्दू में। दो का अर्थ है दो, लत का अर्थ है लात अथवा पैर। तो लक्ष्मी के दो लात हैं। सो जब वह आती है तब यह पुरुष की छाती पर लात मारकर आती है। तो पुरुष के छाती लगने से छाती टेढ़ी हो जाती है। तो जब धन आता है तो अभिमान के मारे छाती पसार कर दृष्टि ऊंची करके यह जीव चलता है और जब यह लक्ष्मी जाती है तो पीठ पर लात मारकर जाती है जिससे कि कमर झुक जाती है, दुर्बल गरीब सा लगने लगता है। ऐसा इस दौलत का प्रयोजन है। पर धीर, गम्भीर पुरुष ऐसा है जो लक्ष्मी आए तो हर्ष न माने, लक्ष्मी जाय तो हर्ष न माने।

लक्ष्मी शब्द का मर्म—भला देखो तो भैया ! इस छोटे काल का प्रभाव कि लक्ष्मी नाम तो है ज्ञानलक्ष्मी का, और कोई दूसरी चीज नहीं है। कोई समुद्र में बैठा हो, दोनों तरफ हाथी खड़े हों, माला लिए हुए या कलसा डाल रहे हों, ऐसी लक्ष्मी कहीं नहीं है। आप अरबपतियों से पूछ लो कि कहीं लक्ष्मी देखी है ? लक्ष्मी नाम है ज्ञानलक्ष्मी का। लक्ष्मी शब्द का अर्थ है लक्ष्म, लक्ष, लक्षण। ये तीनों एकार्थक शब्द हैं। आत्मा लक्षण आत्मा का लक्ष्य, आत्मा की लक्ष्मी ज्ञान है। ज्ञान का नाम लक्षण है। लक्षण लक्ष्मी है, लक्ष्य है और ज्ञानस्वरूप इस विश्व की उत्कृष्टता उपादेय है। सो सारभूत होने से दुनिया की निगाह पूर्व समय में एक ज्ञानलक्ष्मी की ओर लगी रहती थी।

बालकों का मुनिबन में अध्ययन—गुरुवों के सत्संग में विद्याध्ययन के लिये रईस लोग भी छोटे बच्चों को गुरुवों के साथ भेज देते थे। बस भिक्षा मांगो और विद्या पढो। राजा लोगों के लड़के पढते और भिक्षा माँगते थे। जब वे लड़के बड़े होते थे विवाह योग्य १८-२० वर्ष के तब उनको सोचने दिया जाता था कि बेटा विचार करो, तुम किस धर्म को निभा सकते हो ? तुम्हारे पालने

के लिए दो धर्म हैं- गृहस्थधर्म और मुनिधर्म। यदि तुम मुनिधर्म पाल सकते हो तो तुम्हें इतने दिन रहकर अंदाज हो गया होगा, उम्र भी इस योग्य हो गयी है। तुम विचार कर सकते हो, मुनिधर्म पाल सकते हो तो मुनि हो जाओ पर केवल भेष मात्र से मुनि नहीं कहलाता, किंतु भीतर से अनादि अनन्त ज्ञानस्वभाव को पकड़े रहें ऐसी निरन्तर जहां वृत्ति होती है उसे मुनिधर्म कहते हैं। तुम्हारे अन्दर में यदि ज्ञान पुरुषार्थ चल सकता है तो मुनि होओ और गृहस्थ धर्म निभा सकते हो तो गृहस्थधर्म निभावो । उनमें से कोई बालक गृहस्थधर्म निभाता था, कोई मुनिधर्म।

शिक्षित बालक का गृह प्रवेश—उस समय की बात है जब माता पिता के कहने से गृहस्थधर्म में प्रवेश की बात तय हो जाती है तो माता पिता जंगल से अपने बालक को ले आते हैं। अब तो उसकी शादी करना है ना। १५,१६ वर्ष जंगल में रहने से उसका शरीर मलिन हो गया, बालक बड़े हो गए। कोई अँग्रेजी कटिंग तो वहां हो न सकती थी। तो अब सब स्त्रियां मिल कर उसका दस्तूर करती हैं, बाल बनवाती हैं और उबटना करती हैं, तेल लगाती हैं, जिसका रिवाज आज तक चल रहा है। दुल्हा के उबटन लगता है। अरे रोज-रोज शरीर को साबुन से तो धोते हैं फिर क्या उबटना करने का ढोंग करते हो ? पर वह तो रिवाज है। वहीं रिवाज प्राचीन समय से चला आ रहा है। जंगल में रहकर गुरुवों से विद्याध्ययन करते थे और भीख मांगकर अपना उदर भरते थे। राजा के लड़के, करोड़पतियों के लड़के, उन लड़कों का उबटना और तेल होना सही था। पर वह रिवाज आज तक चल रहा है, और वह रिवाज यह स्मरण दिलाता है।

विशुद्ध आत्मतत्त्व की दृष्टि की प्रेरणा—भाई प्रकरण की बात यह है कि इस मनुष्य जन्म का सदुपयोग यह है कि अपने आपको ज्ञान से भर लेना और ज्ञानमात्र निहार कर संतुष्ट और शांत रखना। कर्मों का काटना, संसार से छूटने का उपाय बना लेना, यह है मनुष्यजन्म की सफलता का काम। इसलिए विषयकषायों में मोह ममता में ही यह समय मत गुजारो। सर्वविशुद्ध आत्मतत्त्व की आराधना करो। यह समयसार का सर्वविशुद्ध अधिकार है जो प्रवचनों में चलेगा। तैयारी के साथ उसे सुनें तो कुछ दिनों में ही यह सरल हो जायेगा।

चेदा दु पयडीअट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ।

पयडी वि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ॥३१२॥

एवं बंधो उ दोण्हं पि अण्णोण्णप्पच्चया हवे।

अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायदे।।३१३।।

संसार होने का कारण—आत्मा प्रकृति के अर्थ उत्पन्न होता है और विनष्ट होता है। यहां उत्पन्न होने और विनष्ट होने का अर्थ है पर्यायविभावों में बदलते रहना। आत्मा विभाव किसलिए करता है ? आचार्य ने यहां यह उत्प्रेक्षा की है कि विभावों के प्रयोजन के लिए प्रकृति उत्पन्न होती है, प्रकृति के प्रयोजन में आत्मा विभावरूप परिणमता है अर्थात् आत्मा के विभावों का निमित्त पाकर कर्मों में कर्मत्व अवस्था आती है। इस ही का दूसरा अर्थ यह है कि प्रकृति का निमित्त पाकर आत्मा अपने में विभाव परिणमन करता है। इसी तरह प्रकृति भी, कर्म भी क्यों बनते हैं? वे आत्मा में विभाव उत्पन्न करने के लिए बनते हैं, ऐसी आचार्यदेव की उत्प्रेक्षा है। इसी प्रकार आत्मा और प्रकृति में परस्पर में निमित्तनैमित्तिक भाव है और इसी कारण यह संसार उत्पन्न होता है।

शुद्ध वर्णन के पश्चात जिज्ञासा का समाधान—इससे पहिले सर्वविशुद्ध ज्ञान स्वरूप बताया जा रहा था यह आत्मा विशुद्ध केवल ज्ञानानंद ज्योति स्वरूप है। वह कर्ता भोक्ता बंध मोक्ष सर्व विकल्पों से परे है, ऐसा उत्कृष्ट वर्णन करने के बाद श्रोता को यह प्रश्न उत्पन्न हो जाता है, तो फिर यहां जो कुछ दिखता है संसार यह क्या है अन्य लोग तो इसको स्वतंत्र मायारूप मानते हैं, किंतु स्याद्वाद की पद्धति में कहा जा रहा है कि इस आत्मा में और कर्म में परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है और इसी कारण यह संसार उत्पन्न हुआ।

दृष्टियों का कार्य—दृष्टियों का काम अपने विषय को देखना है। वे दूसरे की विषयों का निषेध नहीं करते। जैसे आँख का काम—जिस और निगाह दें उस और दिखा देने का काम है। पीछे की चीज को मना करने का काम आँख का नहीं है। इसी तरह नयों का काम अपने विषय को देखने का है। दूसरी नय के विषय को मना करने का काम नहीं है। जब सर्वविशुद्ध ज्ञान का स्वरूप देखा जा रहा है तब केवल एक सहज ज्ञायकस्वरूप ही दृष्टि में लिया जा रहा है। उस दृष्टि में बंध, मोक्ष, कर्ता, भोक्ता की कल्पना नहीं है। पर ज्यों ही दूसरी आंखों से देखने को चले तो फिर यह संसार इतने मनुष्य, इतने पशु, इतने तिर्यच ये सब कहां से आए यह जिज्ञासा होना प्राकृतिक है। पदार्थ तो प्रत्येक विशुद्ध हैं, केवल अपने सहज स्वरूप हैं। फिर यह सब कहां से पैदायस हो गयी ? तो उत्तर देना ही पड़ेगा।

शुद्ध द्रव्य में अशुद्धपरिणति की जिज्ञासा का समाधान—यद्यपि प्रत्येक पदार्थ अपने सहजस्वरूप मात्र है फिर भी जीव और पुद्गल इन दोनों में वैभाविक शक्ति पायी जाती है सो

दोनों परस्पर एक दूसरे का निमित्त पाकर विभावरूप हो जाते हैं। यह दृश्यमान सर्व कुछ स्वतंत्र माया नहीं है किंतु आधारभूत परमार्थ द्रव्य की अवस्था विशेष है, सो जब तक यह जीव पदार्थ को नीयत-नीयत स्वलक्षण को नहीं जानता है शरीर क्या है, मैं क्या हूँ, इन दोनों के नीयत लक्षणों को नहीं पहिचानता है तब तक शरीर में और आत्मा में एकत्व का अध्यवसान करेगा ही। पता ही नहीं है उसे भिन्न-भिन्न स्वरूप का और जब एकत्व का अध्यवसान करेगा तो सारे ऐब सारी गालियां उसमें आने लगेंगी।

अध्यवसान और आत्मशक्ति का दुरूपयोग—अध्यवसान कहते हैं अधिक निश्चय करने को। भगवान से भी ज्यादा निश्चय करने का नाम अध्यवसान है। अब समझ लो संसारी जीव भगवान से आगे बढ़ चढ़कर बनने में होड़ मचा रहा है। भगवान नहीं जानता है कि यह इनका घर है पर ये हम आप डटकर जान रहे हैं यह मेरा मकान है, यह उनका मकान है। तो भगवान से भी बढ़कर आप लोग निश्चय करते जा रहे हैं। इसे कहते हैं अध्यवसान । भगवान झूठ को नहीं जाना करता मगर संसारी जीव झूठ को बहुत अच्छा परखते हैं और सांच की ओर से आँखें बंद किए रहते हैं। किसी मामले में भगवान से बढ़कर उनसे होड़ मचाकर से संसारी जीव चल रहे हैं। ये परपदार्थों में और निज आत्मतत्त्व में एकत्व का निश्चय किए हुए हैं। इस कारण ये सब जाल बन रहे हैं। एक परिवार का पुरुष परिवार के दूसरे पुरुष के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर क्यों किए जा रहे हैं ? उसके लिए अपना अमूल्य मन क्यों सौंपे जा रहे हैं ? उसका कारण है कि उसे परिवार के उस मायामय पर्याय पर एकत्व की बुद्धि लगाए हैं, इस कारण उसे वही सब कुछ प्रिय दिखता है।

कल्पित आत्मीय की प्रियतमता—एक सेठ के यहां एक नई नौकरानी आयी। सेठानी का लड़का एक स्कूल में पढ़ता था। वह लड़का रोज अपने साथ दोपहर का खाना, कलेवा मिठाई वगैरह ले जाता था। एक दिन जल्दी-जल्दी में वह लड़का कुछ न ले जा सका। अब सेठानी ने नौकरानी से कहा जो कि उसी दिन से नौकरी पर आयी थी कि देखो फलाने स्कूल में जावो और यह मिठाई मेरे लड़के को दे आना। तो नौकरानी कहती है कि हम तो आपके लड़के को पहिचानती नहीं हैं। सेठानी को था अपने बच्चे पर बड़ा घमंड कि मेरे बच्चा जैसा सुन्दर रूपवान प्यारा दुनिया में कोई है ही नहीं। सो सेठानी मुस्करा कर बोली—अरे स्कूल में चली जावो और तुम्हें जो सबसे प्यारा लगे वही मेरा लड़का है, उसको मिठाई दे आना। अच्छा साहब। मिठाई लेकर चली नौकरानी । उसी स्कूल में नौकरानी का भी लड़का पढ़ता था। मगर वह लड़का काला कुरूप, चपटी नाक, बहती नाक वाला था। नौकरानी जब पहुंची स्कूल में तो उसने सारे लड़कों को

देखा, उसे सबसे प्यारा बच्चा खुद का ही लगा। उस लड़के को मिठाई लेकर वह चली आयी। शाम को जब सेठानी का लड़का घर आया तो कहा, मां आज तुमने मिठाई नहीं भेजी। सेठानी नौकरानी को बुलाती है कहती है क्यों तुझे मिठाई दी थी ना ? तुने मेरे लड़के को मिठाई नहीं दी ? तो नौकरानी कहती है कि मालकिन आपकी मिठाई हमने आपके लड़के को दे दी थी। अरे यह तो कह रहा है कि नहीं दिया। बड़ी गुस्सा हुई। तो नौकरानी कहती है कि आपने कहा था ना कि जो लड़का सबसे प्यारा लगे उसी को मिठाई दे देना। सो हमने स्कूल में तीन चार सौ लड़कों को देखा, सबसे प्यारा बच्चा हमको हमारा ही लगा, सो उसे खिला दिया।

अज्ञान का अँधेरा—तो भाई क्या खेल हो रहा है ? अपने घर के माने हुए दो चार जीवों पर कैसा अपना तन, मन, धन न्यौछावर किया जा रहा है। ये संसारी मोही प्राणी जिनसे रंच भी सम्बंध नहीं है, जैसे सब जीव हैं वैसे ही ये जीव हैं पर मोह का, अज्ञान का अँधेरा बहुत बड़ी विपत्ति है। इससे आत्मा को शांति नहीं प्राप्त होती है। इस अज्ञान के कारण इस आत्मा में और कर्म में परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव बढ़ा चला जा रहा है और अनेक संकटों को यह जीव झेलता है। संकट झेलना तो इसे पसंद है पर मोह छोड़ना पसंद नहीं होता। जब अज्ञान की अंधेरी छाया है, ज्ञान में प्रवेश नहीं है अपने आपका मान ही नहीं है, जैसा स्वतंत्र स्वरूप है उसकी खबर ही नहीं है तो कैसे मोह का परित्याग करे ?

मोही का शुद्ध स्वरूप में अविश्वास पर एक दृष्टांत—भैया ! मोही प्राणी को यह विश्वास ही नहीं है कि यदि समस्त परपदार्थों का विकल्प छोड़ दें, मिथ्यात्व त्याग दें तो आत्मा में स्वाधीन सहज अनुपम आनन्द प्रकट होता है। ऐसा इस मोही को विश्वास ही नहीं है। जैसे किसी भिखारी ने ५-७ दिन की बासी बफूडी रोटियां अपने झोले में भर रखी हैं और फिर भी तृष्णावश जगह-जगह से रोटी माँगता फिरता है। उस भिखारी को कोई सज्जन कहे कि ऐ भिखारी, तू इन बासी बफूडी रोटियों को फेंक दे, मैं तुझे ताजी पूड़ी दूंगा तो क्या भिखारी उन रोटियों को फेंक देता है ? नहीं । उसे विश्वास ही नहीं होता है। वह सोचता है कि मैं इनको फेंक दूँ जो मुश्किल से कई दिनों में कमाया है और न मिले पूड़ियां तो कैसे गुजारा चलेगा ? वह नहीं फेंकता है। हां वह सज्जन यदि अति दयालु हो तो पुड़ियों का टोकना आगे धर दे फिर कहे कि अब तो फेंक दो। तो शायद है कि वह उन रोटियों को फेंक देगा। तिस पर भी शायद है। क्यों कि शंका होगी कि कहीं यह फुसला न रहा हो। दिखा तो दी हैं पर शायद न दे। उसकी झोली में छोड़ दे तो शायद फेंक सकता है।

मोही का शुद्धस्वरूप में अविश्वास - इसी प्रकार जन्म-जन्म का परवस्तुवों का भिखारी

कई बार की भोगी हुई, खाई हुई वस्तुओं का संचय किए हुए है। बासी बफूडी जूठे भोगों का यह संचय किए हुए है। इसको कुन्दकुन्दाचार्य अन्य आचार्य महापुरुष समझा रहे हैं कि तू इन जूठे भोगों को छोड़ दे तो तुझे अनुपम आनन्द मिलेगा। पर इसे कहां से विश्वास हो। सोचता है यह मोही प्राणी कि यह तो धर्म बाल बच्चे खुश रखने के लिए किया जाता है। अपनी घर गृहस्थी सुख से रहे इसलिए किया जाता है और इसके करने की यह पद्धति है। यों धर्म करते जावो और इस इस तरह सुख भोगते जावो। यह उपदेश है संसार के सुख भोगने का कि धर्म करते जावो और सुख भोगते जावो। ऐसा मान रखा है मोही जीव ने।

अज्ञानी की धर्मविधि का एक दृष्टांत—जैसे एक गांव के पटेल को हुक्का पीने की बड़ी आदत थी। चलते-चलते हुक्का पीता जाय। सो वह घर में हुक्का पीता जाय और अपने बच्चे से चिलम भरवा ले और पीता जाय। कहता जाय—देखो बेटा हुक्का पीना बहुत खराब है, हुक्का नहीं पीना चाहिए, स्वयं गुडगुड करता जाय। कहता जाय कि देखो इस हुक्के में बड़े ऐब हैं—पेट खराब हो जाय, तम्बाकू के रंग के कीड़े पड़ जाए, मुंह से दुर्गन्ध आए, हुक्का न पीना चाहिए और गुडगुड करता जाय। अब पटेल तो गुजर गया। अब वह लड़का घर में प्रमुख हो गया। सो वह भी रात दिन हुक्का पीवे। सो एक समझदार बोलता है कि तुम्हारे बाप ने तो दसों वर्ष तुमको समझाया था कि हुक्का न पीना चाहिए, पर तुम्हारे मन में नहीं उतरा। तुम हुक्का पी रहे हो। तो लड़का बोला कि पिताजी यह बताते थे कि हुक्का पीने की विधि यह है कि पास में लड़के को बैठाल लो और उसको कहते जावो कि हुक्का न पीना चाहिए और पीते जावो। तो यह हुक्का पीने की विधि है।

अज्ञानी की धर्मविधि—ऐसी ही संसार के सुख भोगने की यह विधि हैं कि मंदिर आते जावो, बेदी पर पैर पड़ते जावो, कुछ काम करते जावो, बैठते जावो। यह विधि है भोगों के भोगने की। ऐसा मान रखा है इस मोही जीव ने। जब तक मोह का विष दूर नहीं किया जायेगा तब तक शांति की मुद्रा भी दिखने में न आयेगी। मोह करते-करते अब तक भी तो शांति नहीं पायी। फिर भी आशा लगाए हैं कि शांति मिलेगी। वर्तमान का जीवन देख लो—हुए कुछ कृतार्थ क्या कि अब कोई काम नहीं रहा। खूब सुख भोग लिया, बेचैनी वही, क्लेश वही, आकुलता बढ़ गयी, फिर भी खेद है कि अन्तर में आशा यह लगाए हैं कि आगे सुख मिलेगा। इस बात का खेद नहीं है कि आप घर में रह रहे हैं। यह कोई खेद की बात नहीं है। खेद की बात तो यह है कि आशा ऐसी लगाए हुए हैं कि आगे मुझे इस धन वैभव परिवार विषय भोग से चैन मिलेगा—यह है खेद की बात। कर्म अपना कुल बढ़ाने के लिए सदा उद्यमी रहते हैं, यह विभाव अपना कुल बढ़ाने के

लिए सदा तत्पर रहता है जो कि जड़ है, अचेतन है, चिदाभास है, पर यह चेतन प्रभु अपना कुल बढ़ाने के लिए रंच उद्यम नहीं करता।

अज्ञानी के आद्य दो अपराध—यह जीव अनादि काल से ही तीन चार अपराधों में लग रहा है। पहिला तो यह अपराध है कि जो परिणमन होता है, जो पर्याय मिलती है उसको ही मानने लगता है कि यह मैं हूँ । दूसरा अपराध कि इस ही बलबूते पर यह मान्यता उठ खड़ी होती है कि ये परपदार्थ मेरे हैं। इसमें उदारता नहीं प्रकट हो पायी। चाहे पाप का उदय आए तो यह अच्छी तरह ठुक पिट जाय। पर अपने मन पर, चित्त में यह उदारता नहीं आ पाती कि मेरा क्या है ? जगत में यदि किसी दूसरे का उपकार होता है थोड़े से त्याग में, उदारता में तो इससे बढ़ कर हमारे लिए खुशी की बात क्या होगी ?

अज्ञानी का तृतीय अपराध—तीसरा अपराध है पर का कर्ता समझ लेना। मैं जो चाहूँ सो कर सकता हूँ । पर का कर्तृत्व का भार इस पर बहुत बुरी तरह लदा हुआ है। और इसी राग में फंसे हुए प्राणी रात दिन बेजार रहते हैं। अमुक काम करने को पड़ा है। सुबह हुई तो थोड़ा मंदिर जाने का काम पड़ा है, फिर दुकान जाने का काम पड़ा हुआ है, अब अमुक काम पड़ा है। एक न एक काम रहने की धुनि इस पर सदा सवार रहती है। किसी भी क्षण यह जीव नहीं देख पाता कि मैं सर्व पदार्थों से न्यारा केवल अपने आप में अपना परिणमन करता हुआ रहा करता हूँ । मैं अपने ज्ञानानन्द आदिक गुणों के परिणमन करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर पाता हूँ , ऐसा यह अपने को अनुभव नहीं कर सकता।

अकिंचन्य भाव का महत्त्व - अकिंचन मानने में जो महत्त्व प्रकट होता है वह सकिंचन समझने से नहीं प्रकट होता। अकिंचनस्वरूप की सेवा से आनन्द की नदियां उमड़ पड़ती हैं। जैसे कि पहाड़ पर कोई पानी का बूंद नजर नहीं आता ऐसे निर्जल पहाड़ में से नदियां फूट निकलती हैं पर समुद्र जिसमें लबालब पानी भरा हुआ है उसमें से एक भी नहीं निकलती। जो अपने को अपने उपयोग में अकिंचन देखे हुए है या अकिंचन जो प्रभु है उनके तो आनन्द की सरिता बह निकलेगी, किंतु जो अपने को सकिंचन माने हुए हैं—मैं घर वाला हूँ , धन वाला हूँ , सुन्दर स्वरूप हूँ , इज्जत पोजीशन वाला हूँ , इस प्रकार जो अपने को सकिंचन मान लेता है वह खारे समुद्र की तरह है। उसमें से आनन्द की एक भी धार नहीं बह पाती और जो अपने को अकिंचन तका करता है मेरे में अन्य कुछ नहीं है, मैं केवल निज स्वरूप मात्र हूँ , शून्य हूँ , ऐसा जो अपने को अकिंचन समझते हैं उन जीवों में आनन्द सरिता प्रवाह बह निकलता है। यह तो धर्म

है कि अपने को सबसे न्यारा केवल ज्ञानानन्दमात्र अनुभव कर लें। यह बात हो सकी तो हमने धर्म का पालन किया।

बंधमूल निमित्तनैमित्तिक भाव—यह जीव अनादि काल से ही अपने अपने नीयत लक्षणों का ज्ञान न करने से परपदार्थों में और निज आत्मा में एकत्व का निश्चय करता है और इस एकत्व के निश्चय करने से कर्ता होता हुआ यह जीव प्रकृति के निमित्त अथवा प्रकृति का निमित्त पाकर अपना उत्पाद और विनाश करता है, प्रकृति भी जीव का निमित्त पाकर अपना उत्पाद और विनाश करती है। इस तरह आत्मा और प्रकृति में यद्यपि परस्पर कर्ताकर्म भाव नहीं है तो भी एक दूसरे का निमित्तनैमित्तिक भाव होने के कारण दोनों में ही बंध देखा गया है।

प्रकृतिविस्तार—प्रकृति बोलते हैं कर्मों को। कर्मों के भेदों में प्रकृतियां बतायी गयी हैं, सो प्रकृति नाम मात्र कर्म के भेदों का नहीं है, किंतु कर्म का भी नाम प्रकृति है और कर्म के भेदों का नाम भी प्रकृति है। कर्म कितने होते हैं? कर्म आठ होते हैं जाति अपेक्षा, और उन कर्मों के भेद कितने होते हैं ? भेद होते हैं १४८ संक्षेप करके। किंतु होते हैं अनगिनते। जैसे ज्ञानावरण, मनःपर्यय ज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण। तो मतिज्ञानावरण में कई भेद होते हैं। जैसे घटज्ञानावरण, पटज्ञानावरण, मंदिर ज्ञानावरण, गृहज्ञानावरण, जितने पदार्थों के मतिज्ञान होते हैं सो उनके आवरण हों तो उतने ज्ञानावरण होते हैं। ये अनगिनत ज्ञानावरण हो गए। इसी तरह श्रुतज्ञानावरण, सभी ये अनगिनते होते हैं। दर्शनज्ञानावरण में देखो तो उनके भी इसी तरह अनगिनते भेद हैं। अवधिज्ञानावरण में जितने पदार्थों का अवधिज्ञान न हो, जिस निमित्त से वे निमित्त हैं उतने ही हैं और भी मोटे रूप से देख लो।

नाम कर्म की पर्याय ९३ बतायी हैं। उनमें से किसी भी एक प्रकृति का नाम ले लो। जैसे एक शुभ नाम प्रकृति है, शुभ नाम प्रकृति के उदय का निमित्त पाकर अंग शुभ होता है तो कोई कर्म शुभ है, कोई अधिक शुभ है इस तरह से कितनी प्रकार की शुभ प्रकृतियाँ हो जाती हैं। वर्ण नामक प्रकृति है। कोई किसी वर्ण का है, कोई किसी और वर्णों के भी कितने की वर्ण हैं, तो कितने भेद हो गए ? ये कर्मों के भेद अनगिनते होते हैं। प्रकृति की अपेक्षा और अनुभाग की अपेक्षा अनन्त कर्म होते हैं और प्रदेश की अपेक्षा अनन्तकर्म होते हैं। प्रकृति और स्थिति की अपेक्षा असंख्यात कर्म होते हैं।

बन्धन और अवधि - इन कर्मों का और इन जीवों का परस्पर में निमित्तनैमित्तिक भाव है, कर्ताकर्म भाव नहीं है क्योंकि प्रत्येक द्रव्य का परिणमन उसमें ही तन्मय होकर रहता है। कर्मों का जितना जो कुछ परिणमन है वह कर्मों में ही तन्मय होकर होता है। आत्मा और कर्म

का पुरुष और प्रकृति नाम रखा है। जब तक पुरुष और प्रकृति में भेदविज्ञान नहीं होता है तब तक यह जीव संसारी है, कर्ता है, भोक्ता है, जन्ममरण की परम्परा बढ़ाने वाला है और जब प्रकृति और पुरुष में भेद विज्ञान हो जाता है तब यह जीव अकर्ता है, अभोक्ता है। इस ज्ञानी संत की पद-पद में, प्रत्येक क्षण में अपने आपकी ओर उन्मुखता हुआ करती है। सो जब तक यह निमित्तनैमित्तिक भाव चलता जा रहा है तब तक इन दोनों का भी बंध देखा गया है। जीव और कर्म ये दोनों परस्पर बंध गए।

बन्धन में दोनों का विपरिणमन—यहाँ ऐसा नहीं जानता है कि यहाँ केवल जीव ही बंधा है। जीव भी बंधा है और कर्म भी बंधा है। जीव अपने स्वभाव की स्वतंत्रता न पाकर रागद्वेषादिक अनेक पराधीनता के भावों में जकड़ा है और ये कर्म अपनी स्वतंत्रता खोकर जीव के साथ बंधा हुआ है और देखो जीव में तीव्र अशुभ परिणाम हो तो उदय में आने वाले कर्मों की उदीरणा हो जाती है। जीव में तीव्र शुभ और निर्मल परिणाम हो तो उदय में आने वाले कर्मों की उदीरणा हो जाती है। इस जीव के विभाव का निमित्त पाकर कर्मों में बनना बिगड़ना ऐसी पराधीनता कर्मों में भी है।

पराधीनता के विनाश का उपाय—यह पराधीनता कब मिट सकती है जब यह जीव अपने स्वरूप को संभाले कि यह मैं आकाश की तरह निर्लेप शुद्ध ज्ञायक स्वभावमय चेतन तत्त्व हूँ। इस मुझ आत्मा का किसी भी परस्वरूप भाव से कोई सम्बंध नहीं है। ऐसा भेद विज्ञान पाकर अपने को ज्ञानमात्र स्वरूप मानें तो इस जीव का बंधन रूकता है। इस आत्मा के और कर्मों के बंधन के कारण यह संसार चल रहा है और इस कारण इन दोनों में कर्ता कर्म का व्यवहार होता है। भेदविज्ञान होने पर पराधीनता का विनाश होता है।

विचित्र बन्धन—देखो यहां भी कितना विचित्र बंधन है कि पर का परिणमन देखकर अपने आप में अपनी विचित्र कल्पना बनाना। ज्ञान का काम तो यह है कि पर की बातों को पर की ओर से देखना, अपनी ओर से न देखना। अपने विचारों के मुताबिक पर में परिणमन हो, इस प्रकार नहीं देखना किंतु जैसा हो रहा हो वैसा उपादान और परिणमन सर्वयोग जानकर मात्र ज्ञाता रहना, यही है ज्ञान का काम। देखो सभी जीव अपने अपने भावों के अनुसार अपनी-अपनी प्रवृत्ति में लगे हैं। जो जैसा चाहता है वह वैसा अपना वातावरण चाहता है। किंतु किसी का वातावरण में अपना अधिकार नहीं है। अपने को ही संयत करके अपने को ही केन्द्रित कर समझाकर अपने आपको अपनी अनाकुलता के अनुकूल बना सकना इस पर तो अपना अधिकार है, किंतु किसी परजीव के परिणमन पर अपना कोई अधिकार नहीं है।

परतन्त्रता के विनाश से दुःखविनाश—भैया ! और दुःख है क्या इस संसार में ? पदार्थ हैं और प्रकार और हम मानते हैं और प्रकार । पदार्थ हैं विनाशीक और हमारे कब्जे में जो कुछ है उसके प्रति विश्वास बनाए रहते हैं कि यह अविनाशी है। चीजें मिटती हैं तो औरों की मिटा करती होगी, हमारी नहीं मिटती। परिवार के लोग गुजरते हैं तो औरों के गुजरा करते हैं अपने परिवार के लोगों में, ये भी मिटेंगे ऐसी कल्पना तक नहीं उठती । पदार्थ हैं सब भिन्न और अशरण किंतु जीव अपना शरण पर पदार्थों से मानता है किंतु कोई शरण न होगा, न माता, न पिता, न भाई, न भतीजे। अरे वस्तुस्वरूप कहीं बदल दोगे ? क्या उनके गुण और पर्यायें खींचकर तुम अपने में रख सकोगे ? क्या अपने गुण और पर्याय उनमें रख सकोगे ? वस्तुस्वरूप तो नहीं बदल सकता। तब फिर कैसे कोई किसी का शरण होगा ? ऐसी स्वतंत्रता का भान जब ज्ञानी पुरुष के होता है तब उसके कर्ता कर्म का व्यवहार समाप्त हो जाता है।

प्रशंसा द्वारा अपराधी की खोज—स्कूल में लड़के नटखटी हो और कोई लड़का कोई काम बिगाड़ दे तो मास्टर यों पूछता है कि भाई यह काम बड़ी चतुरायी का किया है, कितना सुन्दर बना दिया इस चीज को ? बड़ी बुद्धिमानी का काम किया है किसी ने, किसने इस काम को किया है ? तो बिगाड़ने वाला लड़का बोल देता है कि मैंने किया है। लो पकड़ा गया। कर्तृत्व बुद्धि का आशय आने से वह पकड़ा गया। अच्छा सभी भाई अपने घर से बँधें हैं, अपने परिजन से बँधें हैं, अपनी तृष्णादिक भावों से बँधें हैं, तो भला बतलावों कि ये आजादी से बँधें हैं या जबरदस्ती से बँधें हैं ? आजादी से बँधें हैं। कोई दूसरा जबरदस्ती नहीं कर रहा है। खुद ही राग उठता है और खुद ही बँधते हैं।

निमित्तपना और आश्रयभूतपना—विभाव होने में निमित्त कर्मों का उदय है, बाहरी पदार्थ भावों में निमित्त नहीं होते । हमारे रागद्वेषादिक भावों में कर्म निमित्त हैं सिर्फ । ये चीजें निमित्त नहीं हैं। इसको बोलते हैं आश्रयभूत। जैसे एक गुहेरा जानवर होता है तो लोग उसके सम्बंध में कहते हैं कि जब यह काटता है किसी को तो तुरन्त मृतता है और उसमें लोट जाता है और उसका अपने ही मूत्र में लोट जाना यह विष को बढ़ाने वाला होता है जिससे हृष्ट पुरुष मर जाता है। तो क्या उस गुहेरा में कुछ ऐसा बैर भाव है कि पुरुष को काटे और तुरन्त मृतकर लोट जाय ? ऐसा नहीं है, किंतु गुहेरे का मूतना इस ही भांति से हो कि वह किसी चीज को दबा कर, काटकर ही हो। किसी भी चीज को काटकर मूत्र करे। मनुष्य हो, जानवर हो या कोई लकड़ी हो। वह यों ही काटकर अपने मूत्र में लोटता है। सो ये रागद्वेष जो उत्पन्न होते हैं वे कर्मों के उदय का निमित्त पाकर होते हैं। इन बाहरी विषय भूत पदार्थों का निमित्त पाकर नहीं होते । ये

निमित्त ही नहीं होते, किंतु कर्मों का निमित्त पाकर उठ सकने वाले रागद्वेषादिक के मय जो हमारी पकड़ में आ गया, आड़ में आ गया, ज्ञान के विषय में आ गया बस उसका उपयोग बनाकर हम रागद्वेष कर डालते हैं। इसी कारण चरणानुयोग की पद्धति से बाह्य पदार्थों का त्याग करना बताया है।

त्याग का प्रयोजन—बाह्य पदार्थों का त्याग करने से परिणाम शुद्ध हो ही जाए ऐसा नियम तो नहीं है, पर रागद्वेष उत्पन्न होने के आश्रयभूत है परपदार्थ। सो ऐसा यत्न करते हैं कि उस आश्रयभूत से दूर रहें तो नो कर्म न रहने से ये कर्म निष्फल हो सकते हैं। तो निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध जीव के विभावों का कर्मों के साथ है इन बाह्य पदार्थों के साथ नहीं है। तभी तो कुछ ऐसी शंका हो जाती है। जो इस बाह्य पदार्थ को भी निमित्त मानते हैं कि देखो अमुक निमित्त मिला और फिर भी क्रिया नहीं हुई। अरे वह निमित्त है कहाँ, वह तो आश्रयभूत है। क्या कभी एक सा अटपट परिणमन देखा सुना कि क्रोध प्रकृति का उदय आ रहा हो और यह जीव मान कर रहा हो ? नहीं, तभी तो निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध यह है, पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध होने पर भी पदार्थों के स्वरूप पर दृष्टि दें, उनके अस्तित्व को देखें तो वहाँ कर्ता कर्म सम्बंध नहीं है। कर्म जीव में कुछ भी कार्य नहीं कर सकते हैं, जीव कर्म में कुछ भी कार्य नहीं कर सकते हैं।

स्वतंत्र परिणमन—भैया ! जीव जो करेगा सो अपना कार्य करेगा। कर्मों में जो परिणमन होगा सो उसका अपना होगा, पर इन दोनों में परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है। जैसे मोटे रूप में अभी का दृष्टांत लो। आपने पूजा वालों को रोका तो वे और जोर से बोलने लगे और पूजा वाले जोर से बोलने लगे तो आपमें और रोष आने लगा। इस सम्बंध में आपका पूजकों ने कुछ नहीं किया, आप अपने में ही कल्पना बनाकर हाथ पैर पीटकर बैठ गए और पूजकों का आपने कुछ नहीं किया, वे भी अपनी शान समझकर अपनी कल्पना से अपने आप और जोर से चिल्लाने लगे। हम आप अपने परिणमन से अपनी चेष्टा करने लगे, वे अपने परिणमन से अपनी चेष्टा करने लगे। ऐसा ही सब जगह हो रहा है, घर में भी ऐसा ही होता है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कुछ भी परिणमन कर सकने में समर्थ नहीं है। पर निमित्तनैमित्तिक भाव का खण्डन भी नहीं किया जा सकता। न हो निमित्तनैमित्तिक भाव तो बतलावो यह सारा संसार कहाँ से आ गया ? कैसे हो गया ?

अपनी दृष्टि - भैया ! हैं ये सब पर अपना कर्तव्य तो यह है कि ऐसी दृष्टि बनावो जिस दृष्टि के प्रताप से संसार के ये सब संकट टल जाए। वह दृष्टि क्या है ? निमित्त की दृष्टि बनने से संकट नहीं टलते। हैं वे निमित्त, पर उनकी दृष्टि से संकट दूर नहीं होते। संकट दूर होंगे तो एक

अद्वैत शुद्ध निज ज्ञायक स्वभाव की उपासना से संकट दूर होंगे। धर्म के पदों में चतुर्थगुणस्थान से लेकर जहाँ तक बुद्धिपूर्वक यत्न है, अथवा जहाँ अबुद्धि पूर्वक भी यत्न हैं, मोक्ष मार्ग के लिए वहाँ केवल एक ही काम हो रहा है। वह क्या काम ? अपने सहजस्वरूप का आलम्बन। जहाँ जानन हो पाता है वहाँ हमारे धर्म का पालन है। पूजा करते हुए मैं जितनी दृष्टि अपने शुद्ध स्वभाव की रूचि लेकर अपने आप में मग्न होने के लिए चलती है उतना तो धर्मपालन है और जितना यहां वहां के बाहरी लोगों को देख कर पूजा में उत्साह और चिल्लाहट बढ़ती है वह तो धर्म का पालन नहीं है।

अज्ञानी की भक्ति—भगवान की मुद्रा को देखकर यदि शांति रस की और मचलते हैं वह तो है भगवान की पूजा और चार आदमियों को दिखाकर यदि हम कुछ लय के साथ जोर से पूजा पढ़ने लगते हैं तो वह है चार आदमियों की पूजा। जिसका जहाँ लक्ष्य है उसकी वही तो पूजा कहलाती है। यह शांति का परिणामी भगवान के गुणों से प्रेम कर रहा है। तो यह राग और चिल्लाहट से अधिक बोलने वाले के उन चार व्यक्तियों के गुणों पर आसक्ति है, ये लोग जान जायेंगे कि ये बड़े भक्त हैं तो हम कृतकृत्य हो जायेंगे, उसके मन में यह परिणाम है। और इस शांति रस के प्रेमी के हृदय में यह परिणाम है कि प्रभु जैसी शांति छवि निष्कषाय परिणाम निज आनन्दरस में मग्नता यदि मुझमें आ सके तो मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा।

राग का विपाक—यह जीव स्वभाव से यद्यपि अकर्ता है। जीव का स्वतः परिणमन ज्ञाता दृष्टा रहने का है। तो भी अनादि काल से अज्ञान भाव के कारण पर में और आत्मा में एकत्व बुद्धि होने से तो यह भी मिट रहा और ये भी मिट रहे हैं। पुरुष और स्त्री में परस्पर में राग होता है तो तो पुरुष भी बरबाद हो रहा है और स्त्री का भी आत्मा बरबाद हो रहा है ? भाई भाई में यदि यह सांसारिक राग बढ़ रहा है तो वहाँ यह भी बरबाद हो रहा है और वह भी बरबाद हो रहा है। राम भगवान और लक्ष्मण नारायण इन दोनों में कितनी प्रीति थी ? भाई-भाई की प्रीति का इतना जबरदस्त उदाहरण राम और लक्ष्मण का ही है। इतना स्नेह करके राम ने कौनसा आराम लूटा और लक्ष्मण ने कौनसा आराम लूटा ? लक्ष्मण का राम से स्नेह हो ने के कारण हार्ट फैल हो गया था और राम को लक्ष्मण से स्नेह करने के कारण कुछ कम ६ माह तक विभ्रम में रहना पड़ा था तो परस्पर स्नेह करने से क्या आराम लूट लिया यही हालत सबकी है। राग के फल में केवल क्लेश ही हाथ आयेंगे, आनन्द हाथ न आयेगा।

आत्मा की प्रभुता—आत्मा की प्रभुता स्वच्छ ज्ञाता दृष्टा रहने में है। परंतु अज्ञानी जीव अपनी सहज प्रभुता को भूलकर विकल्प करने में व भोगने और पर के अधिकारी मानने में अपनी प्रभुता समझने लगे। ये कर्ता भोक्ता के विकल्प प्रभुता की हीनता करने वाले हैं। लेकिन मोह का अज्ञान जो छाया है इस कारण इस जीव को इन ही दुष्कल्पनावों में अपनी बुद्धिमानी मालूम होती है। आचार्यदेव कहते हैं कि उसे मैं करूंगा, मैं करता हूँ, ये सब विकल्प, ये सब बातें निन्दा की हैं। प्रशंसा की नहीं हैं, जब कि लोग इस ही पर झुकते हैं कि यह बात प्रसिद्ध हो कि मैंने किया। जब कि जैन सिद्धान्त और वीर का संदेश अध्यात्मयोग में यह है कि अपने को अकर्ता मानो। जब कि अपराधी मोही जन जगत के मायामय पुरुषों को जन्म मरण के दुःख भोगने वाले जीवों को अपना कर्तापन जताने का बड़प्पन समझते हैं। आत्मा की प्रभुता है समस्त विश्व ज्ञान में आता रहे, ज्ञान का पुंज रहे, उपयोग से ऐसा ही वह ध्रुव अविचल सामान्य ज्ञानस्वरूप अनुभव में आता रहे कि यह उपयोग इसके ज्ञेय ज्ञानस्वरूप में मग्न हो जाय, ऐसा जो समता रस का और अनुपम आनन्द का अनुभव है, यही है आत्मा की प्रभुता।

अन्तःस्पर्श के लिये प्रेरणा—भैया ! जब तक यह जीव शुद्ध आत्मा के सम्बेदन से च्युत रहता है और प्रकृति के नृत्य के लिए प्रकृति के निमित्त को पाकर यह रागादिक भावों को करता है, तब तक यह बँधता है, दुःख भोगता है, स्वरूप को नहीं अनुभवता है। दुःख से दूर होना हो तो अपने स्वरूप का आदर करें और औपाधिक जो विकल्प हठ कषाय विषय इच्छा जो कुछ अनर्थ भाव हो रहे हैं, इनसे विश्राम लेकर कुछ अपने अन्तर में उतरे। क्या यह जीवन केवल विषय कषायों के लिए है। किसके जीवन में ऐसे दो चार अवसर नहीं आए कि उस ही समय इस देह को छोड़ जाते। यह गर्भ में भी मर सकता था, जन्मते समय में भी मर सकता था, अब बड़ी उम्र में भी पानी में अग्नि में दंगों में अनेक ऐसे प्रसंग आए होंगे जिसमें आयु समाप्ति की सम्भावना थी। यदि तभी गुजर गए होते और गुजरकर किसी परभव में जन्म ले लिया होता तो यहां के मकान वैभव, यहाँ के समुदाय फिर अपने लिए कुछ होते क्या ? यदि आयु संयोगवश अब भी जीते बचे हुए हैं तो कर्तव्य है कि जितना जल्दी हो सके आत्मज्ञान करें। जब तक यथार्थ ज्ञान नहीं होता तब तक यह जीव अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है और असंयमी है। इस ही तत्त्व को कुन्दकुन्ददेव अब दो छंदों में कह रहे हैं।

जा एस पयडीअट्ठं चेदा णेव विमुंचए।
 अयाणओ हवे ताव मिच्छादिट्ठी असंजओ।।३१४।।
 जया विमंचए चेदा कम्मफलमणंतयं।
 तया विमुत्तो हवदि जाणओ पासओ मुणी।।३१५।।

मिथ्या आशय—जब तक यह जीव पदार्थों के प्रतिनियत लक्षणों का ज्ञान न होने से अपनी प्रकृति के स्वभाव को जो कि अपने आपके बंधन का कारण है नहीं छोड़ता तब तक इसे स्वपर का एकत्व ही ज्ञात रहता है इस कारण अज्ञानी ही कहलाता है। हमारा स्वभाव है ज्ञाता दृष्टा रहना और प्रकृति का स्वभाव है कि अपने को बंधन में और दुःख में डालना। कैसा बिगाड़ हुआ है इस जीव का कि इस जीव में एक विचित्र प्रकृति भी पैदा हो गयी भावप्रकृति, जिसके बंधन में पड़ा हुआ यह जीव निरन्तर आकुलित रहता है। अपने और पराये पदार्थों में उस एकत्वरूप का ही विश्वास बनाए है जिसके कारण यह जीव मिथ्यादृष्टि है। मिथ्यादृष्टि का अर्थ है संयोगदृष्टि। मिथ्या, मैथुन, मिथुन, संयोग ये सब एक ही अर्थ के बताने वाले हैं मिथ् धातु का अर्थ है। सम्बंध। सम्बंध की दृष्टि हो, इसे कहते हैं मिथ्यादृष्टि।

मिथ्यात्वनाश का उपाय—मिथ्यात्व कैसे मिटे ? इसके लिये यह ध्यान में आए कि किसी पदार्थ का किसी पदार्थ के साथ सम्बंध नहीं है। तो मिथ्यात्व मिट गया। जो जैसा है उसे वैसा ही मान सके , तो मिथ्यात्व मिट गया। जो जैसा है उसे वैसा न मान सके, सो मिथ्यादर्शन है। निज निज ही है और पर पर ही है, इनमें विविक्तता न समझकर स्व, पर को एक ही बात मानें, इसके मायने है मिथ्यादर्शन। यह गृहस्थावस्था अनेक विकल्पजालों से भरी हुई है। किसी भी सुख चैन की जरा स्थिति पर पहुंच भी जाय तो कुछ नये विकल्प और खड़े कर लेता है। तो सम्बंध मानने का नाम है मिथ्यादर्शन। मिथ्यादर्शन कहो, मोह कहो, अज्ञान कहो एक ही बात है। बस सम्बन्ध न मानिये, यही मिथ्यात्व नाश का साधन है।

अज्ञान और मोह मिथ्यादर्शन के नामान्तर—एक ही चीज को भिन्न-भिन्न पर्यायों से देखते हैं तो भिन्न-भिन्न शकलें मालूम होती हैं, इस विपरीत आशय से हमें ठीक ज्ञान नहीं होता, इसी ढंग में जानते हैं तो इसका नाम है अज्ञान। इसी विपरीत आशय को इस प्रकार देखो कि यह सम्बंध माने हुए हैं इस दृष्टि से देखते हैं तो उसका नाम है मिथ्यादर्शन। इस विपरीत

आशय को जब इस ढंग से देखते हैं के देखो यह कैसा बेहोश है कि ज्ञानानन्दनिधान निज तत्त्व का इसे परिचय ही नहीं हो पा रहा है। तो इसका नाम होता है मोह।

मोह के परिहार की कठिनता—यह मोह परिणाम ही इस जीव का घात करने वाला है और यही छोड़ा जाना कठिन हो रहा है। जैसे चूहों की सभा में सम्मिलित होकर बिल्ली के उपद्रवों का बखान कर लें, चर्चा कर लें कि बिल्ली के गले में घंटी बंधी होती है तो उसके आ जाने पर अपन लोगों को खबर हो जाती। बिल्ली जब आयेगी तो घंटी की आवाज सुनकर अपन बिल में घुस जायेंगे, सुरक्षित हो जायेंगे, इसी तरह मन में खूब आता है सबके कि इस मोह में बड़े उपद्रव हैं। इस मोह उपद्रव को समाप्त करना चाहिए। अरे लगता क्या है? घर ही बैठे रहें, केवल जानना भर है सही। किंतु सही न जानकर पर-पर में ही लग रहे हैं और उनकी ही ओर बहे जा रहे हैं। यह मोहत्याग ही तो एक कठिन लग रहा है, पर कठिन है नहीं।

आत्मावधान का ध्यान—जहाँ यह कहा गया है कि जैन सिद्धान्त का लाभ लेना है तो अपरिग्रह बुद्धि रखो। पर परिग्रह बुद्धि और जकड़ जा रही है जहाँ यह बताया गया है कि कीड़े मकोड़े एकेन्द्रिय आदि जीवों पर भी करुणा बुद्धि रखो, वहाँ पंचइन्द्रियों का भी गौरव न रखने का भाव रखकर बरबाद हुए जा रहे हैं। कितनी विपरीत प्रवृत्ति आज के जगत में हो रही है ? जैसे सरकारी स्थानों पर अच्छे सुन्दर अक्षरों में लिखा रहता है भ्रष्टाचार पाप है इसके करने से देश की हानि है। ऐसा लिखा रहता है फिर भी उसी जगह भ्रष्टाचार होते रहते हैं। इसी तरह यह मनुष्य बातें बहुत कहता है धर्म के लिए, पर जग नहीं पाता है। ऐसा मोह का तीव्र नशा पड़ा हुआ है। फल क्या होगा, पछतावा मिलेगा। वियोग होगा। कहीं को कोई, कहीं को कोई चला जायेगा, और इस मोह की नींद में इस मायामय मूर्तियों को निरखकर विकल्प बनाए गए हैं जिनमें आकुलता भरी रहती है। भैया ! यह जीव विकल्प करके दुःखी होता है। जब अज्ञान लगा हुआ है और मिथ्यादृष्टि हो रही है तब स्व और पर की एकतारूप से परिणमन भी यह जीव कर रहा है। कर नहीं सकता एक भी परिणमन किंतु विकल्प में मान रहा है यह इस तरह यह जीव असंयमी होता है और तभी तक पर और अपने में एकत्व का निश्चय करने से कर्ता बन रहा है। कर्तृत्व का आशय की निःसारता—एक सेठ ने बहुत बड़ी हवेली बनायी थी , हवेली बनाकर उसके महान उद्घाटन का प्रोग्राम रखा। समस्त नगरवासियों को बुलाया गया। बड़े ढंग से सभा की गयी। कवि-सम्मेलन विद्वानों के भाषण, धार्मिक समारोह आदि अनेक प्रोग्राम रखे। उनके बीच वह सेठ बोलता है कि भाई इस हवेली में यदि कोई त्रुटि हो तो बतलावो उस त्रुटि को निकलवा दें । चाहे कोई हवेली का हिस्सा गिरवाकर ठीक करना पड़े, वह भी ठीक करवा दिया जायेगा।

अभिमान पोषने के अनेक ढंग होते हैं। कोई अभिमान विधिवचन कह करके पोषता है, कोई मना करके भी। अजी में क्या करता हूँ, आप सबकी कृपा है। ऐसे आशय में भी यह बात बनी हो सकती है कि ऐसा तो ये जान रहे ही हैं कि इन्होंने यह चीज बनाई, अब साथ ही यह भी जान लें कि देखो इतना बड़ा काम करके भी कितना नम्र पुरुष है। तो कहाँ बचकर जाय। यदि अंतर में कषाय का उदय है तो उसी के अनुरूप तो प्रवृत्ति होगी। सो सबने कहा कि सेठजी यह तो बहुत ऊंची हवेली बनी है, इसमें कोई त्रुटि नहीं है, सब जगह बड़ी शोभा हैं, बड़ी सुन्दरता है।

एक मानो कोई जैन ही उठा और बोला सेठजी ! हमें तो इसमें दो गलतियाँ जबरदस्त मालूम होती हैं। सेठ अपने इंजीनियर से कहता है कि इनकी बात सुनो। ये दो गलतियाँ बताते हैं, उनका जल्दी सुधार करो। अच्छा साहब । अब वह गलती बताना शुरू करता है। सेठजी इसमें पहिली गलती तो यह मालूम हो रही है कि यह हवेली सदा न रहेगी । अब इंजीनियर लोग सुनकर दंग हो गए। इस गलती को कैसे मिटाए ? अच्छा बतावो श्रीकृष्ण जी की हवेलियाँ महावीर स्वामी की हवेलियाँ, रामचन्द्र जी की हवेलियाँ किसी ने देखी हैं। रही भी हैं क्या ? खूब पक्के मकान बनवायें होंगे, पर आज उनका पता भी है क्या ? तो सेठजी एक गलती तो यह है कि यह हवेली सदा न रहेगी। सेठजी और इंजीनियर आंखें फाड़ फाड़कर सुन रहे हैं, पलक ही नीचे को नहीं गिरती। आश्चर्य भर गए। अफसोस में आ गए कि यह गलती कैसे मिटाई जाय ? अच्छा भाई एक त्रुटि तो यह है, दूसरी त्रुटि बतलावो। सेठ जी, इसमें दूसरी त्रुटि यह है कि मकान का बनाने वाला भी सदा न रहेगा।

त्रुटि और नखरा—भैया ! प्रायः सब ही के साथ ये दोनों त्रुटियां लगी हैं। किस पर नखरा बगराया जाता है। किस पर अभिमान पोषा जाता है। नखरा किसे कहते हैं जानते हैं आप लोग। न खरा इति नखरा। जो बात खरी न हो उसका नाम नखरा है। कितना अभिमान पोषा जा रहा है। अभिमान के आश्रयभूत बातें ८ होती हैं। एक तो ज्ञान का सबसे बुरा अभिमान है, जो ज्ञान अभिमान के नाश करने के लिए हुआ करता है उस ही ज्ञान से अभिमान पोषा जाय तो कितना बड़ा अभिमान है ? केवलज्ञान होने से पहिने किसको कहा जाय कि यह पूर्णज्ञानी है। सब अधूरे हैं। अभिमान का दूसरा साधन है प्रतिष्ठा। दसों आदमी बात पूछने लगे तो अब लम्पा की तरह ऐंठे जा रहे हैं, और यदि न उदय होता इतना अच्छा तो हाथ जोड़-जोड़कर मरते या नहीं मरते, बतावो। मिल गया सुयोग तो उसका क्या अभिमान करना ? तीसरी अभिमान की बात होती है अच्छे कुल में पैदा हो जाना। लोग श्रेष्ठ कुल में पैदा होने का भी तो अभिमान करते हैं। अजी में अमुक कुल का हूँ। अरे जो जिस कुल में उत्पन्न होता है उसका कुल भले ही नीच हो,

अत्यन्त नीच की बात छोड़ो जिसमें पैदा हुआ पुरुष भी मान सके कि हम छोटे कुल में पैदा हुए हैं, किंतु प्रायः सभी अपने कुल को श्रेष्ठ मानते हैं। तो कुल का अभिमान, जाति का अभिमान। जाति क्या कहलाती है ? मां जिस घर में पैदा होती है उस घर का जो कुल है वह जाति कहलाती है। मेरी मां बड़े ऊंचे घराने की है, ऐसा अभिमान होना यह जाति का अभिमान है। बल का अभिमान में बलवान हूँ, इसी प्रकार तप का अभिमान, ऋद्धि का अभिमान, शरीर की सुन्दरता का अभिमान।

अभिमान कटु फल—भैया ! इन सब अभिमानों के कारण एक दूसरे को तुच्छ गिनते हैं, और जहाँ एक दूसरे को तुच्छ गिना वहाँ विवाद और विपदाएं खड़ी हो जाती हैं। सामर्थ्य होते हुए भी उस सामर्थ्य का उपयोग न कर सके, यह फूट राक्षसी का प्रसाद है और व्यर्थ की कुबुद्धि, जिससे सर्वसम्पन्नता होकर भी उसका आराम नहीं भोगा जा सकता है। ये एक ही धर्म के मानने वाले भी भाई-भाई गोत्र गोत्र भिन्न-भिन्न जाति का ख्याल रखकर परस्पर में एक दूसरे को किसी प्रकार तुच्छ देख देखें तो बहुत ही खेद की बात है। हम दूसरों का आदर करेंगे तो दूसरे भी आदर करेंगे। हम दूसरे को तुच्छ गिनेंगे तो दूसरे भी तुच्छ गिनेंगे। भला आप किसी से सत्कार से भरे सत्कारपूर्ण वचन बोले और वह आप से कटुता से पेश आए, ऐसा प्रायः नहीं होता है। और आप किसी के प्रति कटुता से पेश आए और वह आपको फूलों की माला पहिनाए, यह भी कठिन बात है।

विचार की सावधानी—यह तो हुई वचनों की बात, जिसका असर सीधा पड़ता है पर ऐसी ही बात मन की होती है। आप सबके सुख की बात सोचेंगे तो सब आपके सुख की बात सोचेंगे, और आप सबके क्लेश की बात सोचेंगे तो सब भी क्लेश का दाब देखेंगे। इन सब पर्याय बुद्धियों को समाप्त करके एक अपने आनन्दमय ज्ञानपुंज सहज स्वभाव का दर्शन तो मिले, हिम्मत बनाकर भूल जावो इन समस्त बाह्य चेतन और अचेतन के संग को। आपका एक अणु भी कुछ नहीं है, रंचमात्र भी कोई पदार्थ अपना नहीं है। वस्तु के स्वरूप को देख लो।

आत्मा का विशुद्ध स्वरूप—इस सर्वविशुद्ध अधिकार में सबसे पहिले मूलभूत यह बात बतायी गयी है कि प्रत्येक द्रव्य जिस-जिस पर्याय से परिणत है, वह उस-उस पर्याय से ही तन्मय हो सकता है, किसी अन्य पदार्थ की पर्याय से रंच भी नहीं मिल सकता है। इस मूल उपदेश ने सारे विवाद को खत्म कर दिया। जब वस्तु की स्थिति ऐसी है तो वहाँ सम्बंध की गुंजाइश क्या और कर्ता कर्म मानने की गुंजाइश क्या ? मैं ज्ञानमात्र हूँ, केवलज्ञान की क्रिया करता हूँ, पर इसके अतिरिक्त और कुछ करने में समर्थ नहीं हूँ।

भेदविज्ञान का प्रताप—जब ही यह जीव भिन्न-भिन्न स्वलक्षणों का ज्ञान होने से प्रकृति स्वभाव को छोड़ देता है, तब ही यह जीव निज को निज पर को पर जानने से ज्ञानी होता है। और ऐसा ही भिन्न-भिन्न स्वतंत्र-स्वतंत्र निरखने से सम्यग्दृष्टि होता है; और फिर पर से उपेक्षित होकर अपनी शुद्ध वृत्ति से परिणम कर यह संयमी बनता है, जब पर और निज के एकत्व का अभ्यास नहीं करता तब यह जीव अकर्ता हो जाता है। अपने से शुद्ध केवल ज्ञानमात्र निहारना, यह यदि बन सका तो इससे बढ़ कर न कुछ सम्पदा है और न कुछ पुरुषार्थ है। इस कारण सर्व यत्न करके विनाशीक तन, मन, धन, वचन को न्यौछावर करके एक अपने आपके अन्तरंग स्वरूप का भान करने में लग जायें, इस आत्मज्ञान से ही इस नरजन्म की सफलता है। सब कुछ पाया पर एक यह आत्मज्ञान न पाया तो सर्व बेकार है।

प्रभुताबाधिनी अज्ञानवृत्ति—इस प्रकरण में यह बताया जा रहा है कि आत्मा तो स्वरूप से सर्व विशुद्ध है। इसमें एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय आदिक पर्यायों की बात लपेटना और रागद्वेषादिक विभावों की बात कहना, इसकी प्रभुता को बरबाद करना है। यह आत्मा अपने आप अपने सत्त्व के कारण केवल ज्ञानज्योतिर्मय अनन्त अनाकुलता स्वरूप अकर्ता, अभोक्ता, बंध मोक्ष की कल्पना से रहित केवल ज्ञानपुंज है। अनादि से अनन्त काल तक केवल शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। शुद्ध का अर्थ है किसी परद्रव्य को ग्रहण किए बिना अपने स्वरूप मात्र होना। सो इस आत्मा का स्वरूप सदा अंतर में एकरूप चला आ रहा है। परन्तु यह कितनी अज्ञान की विचित्र महिमा है कि सारा इसका चमत्कार विपरीत हो गया है। सारा मामला उल्टा हो गया है। जैसे कोई बात करता जाय, सही सही बात हो, फिर भी कोई ऐसी अधिक चूक बन जाय कि सारा मामला उल्टा हो जाय, इस तरह यह सब विपरीत मामला चल रहा है जीव का।

विडम्बना और कल्याण का हेतु—ये सब विडम्बनायें एक अपराध के ही कारण हैं। वह क्या कि निज को निज पर को पर न जान सका और जब निज को निज पर को पर जान लिया तो सारे उलटे किए हुए अनादि के मामले एकदम सही रूप में परिणत हो जायेंगे, ये सब संकट टल जायेंगे। जैसे कोई वकील हो, न्यायालय में कुछ बात कहता जाय, यदि सारी की सारी बातें अपने पक्ष के विपरीत हो जायें और मामला खराब हो जाय। शुरू से अंत तक यहाँ वहाँ की बकता रहा। नशे में था, था ज्ञानी। जब वह नशा कम हुआ और चेत आया कि मैंने तो सारी बातें उल्टी कह डाली तो जज से कहता हैं कि सुनिये जज साहब हमारे पक्ष के विरुद्ध कोई भी वकील जितनी बातें कह सकता था उतनी बातें अभी बतायीं, अब उन सबका निराकरण सुनिए, लो अब सारी की

सारी बातें सही हो जायेंगी। तो इसी तरह अनादिकाल से स्व और पर के एकत्व का अभ्यास करके यह जीव कुयोणियों में जन्ममरण के दुःख भोग रहा था। एकाएक ज्ञानज्योति चमकी, सत्यस्वरूप जाना, वस्तु की सीमा पहिचानी, परभाव का त्याग किया, अपने स्वभाव में आया कि अब इसका सब कल्याण रूप प्रवर्तन होने लगा।

अज्ञान और ज्ञान में आदर का विषय—भैया ! अज्ञान दशा में विकल्पों का आदर था, चेतन अचेतन संग का आदर था, परंतु ज्यों ही उसके निर्विकल्प अवस्था में हित की बुद्धि प्रकट हुई और निःशंक अत्यंत एकाकी स्वरूप में रहने का भाव हुआ, अब वह अपने स्वरूप में समाने की धुनि में लग गया है। तो जब तक यह जीव अज्ञानी रहता है तब तक तो यह कर्ता और भोक्ता है और जब अज्ञान दूर हो जाता है, वस्तु की स्वतंत्रता पहिचान लेता है तब इसका कर्ताकर्मभाव समाप्त हो जाता है और जैसे कर्तापन जीव का स्वभाव नहीं था पर अज्ञान से कर्म का कर्ता बन गया, इसी तरह भोक्तापन भी जीव का स्वभाव नहीं था किंतु अज्ञान से यह कर्मफल का भोक्ता बन रहा है। अज्ञान न रहे तो यह स्वरस का भोक्ता होकर अपने अनन्त आनन्द में मग्न हो जायेगा। बस, दो ही तो निर्णय हैं। एक ज्ञान का विलास और एक अज्ञान का विलास।

अज्ञान में अस्थिर कल्पनायें - आज जो लड़का आपके घर में है और पड़ोसी के यहाँ मरकर जन्म ले ले तो उससे तो आपकी प्रीति नहीं रहती। और आज ऐसे लड़के से जिससे कि नफरत है, आप जिसे पराया जानते हैं मरकर आपके घर में जन्म ले तो आप उससे ममता करने लगते हैं। अरे जो अच्छा हो उसे ही अपना मान लो। पैदा हुए व कुछ बड़े हुए बच्चे का कुछ अच्छेपन का तो पता पड़ेगा, किंतु अच्छा हो या बुरा हो कैसा ही हो, पैदा होने से पहिले ममता हो गयी। हमारा बच्चा होगा। तो जब तक यह अज्ञान रह रहा है तब तक यह जीव दुःखी है।

चैतन्यमहिमा—यह आत्मराम केवल चैतन्यमुद्रा का धारी है और अपने आप में बसा हुआ जो ध्रुव धर्म है ज्ञानप्रकाश, उसका अधिकारी है। यह औपाधिक भाव से परे रहने के स्वभाव वाला है। कर्मफलों के भोगने का इसका स्वभाव है ही नहीं। जो इसे पहिचानते हैं उनको यह प्यारा है, यह केवलज्ञान से जाना जाता है। ऐसा हृदय इस आत्मस्वरूप को नहीं जान सकता कि जाप भी दे रहे, पूजा भी कर रहे, पर घर की खबर आ रही है; धन की, परिवार की भी खबर आ रही है। ऐसी परदृष्टि की तीव्रता वाले पुरुषों के यह ज्ञाननिधान आत्मा भगवान प्रकट नहीं होता।

यह समस्त परपदार्थों से भिन्न है। जो इस आनन्दमय अपने स्वरूप को तक लेता है वह इस जगत से विरक्त रहता है, उसके ममत्व नहीं होता।

वस्तुविज्ञान—भैया ! वस्तुस्वरूप के विज्ञान की महिमा अतुल है। यदि यह वस्तुविज्ञान न मिले तो यह सर्वत्र दुःखी ही दुःखी है। ठहर तो सकता है नहीं यह अपने में, शांति पायेगा कहाँ ? जो जीव शांति पाते हैं वे अपने आप में समाते हुए की पद्धति से पाते हैं। पर की और झुके हुआ कोई संतोष नहीं प्राप्त करता। तो पर से उपेक्षा करके अपने इस आत्मस्वरूप को देखो और इन सर्वजालों से उठकर मुक्त होओ। प्रभु वीर के भक्त हम तब कहायेंगे जब प्रभु वीर के उपदेश पर हम चलें। उनका उपदेश यही तो है कि ऐसा ज्ञान प्राप्त करो जिससे विषय और कषाय उपयोग दूर हों। यही मुक्ति का उपाय है। धन की तृष्णा करने के बजाय ज्ञान की तृष्णा करो। देखो जिसकी जिसमें रुचि है वही तो उसे प्रिय है। कोई कहता है कि शक्कर मीठी होती है, कोई कहता है कि दाल मीठी है, कोई कुछ मीठी बताता है, तो जिसका जहाँ मन लग गया वही मीठा उसे लगता है। जरा ज्ञान की उन्निनीषा उत्पन्न तो हो, देखो कितना आनन्द आता है ?

ज्ञान की हितकारिता व स्वाधीनता—भैया ! धन की कमाई तो है पराधीन, पर ज्ञान का अर्जन है स्वाधीन। धन की कमाई तो है शंका, बीच में नष्ट हो जाय, कोई छुड़ा ले,, लूट ले, पर ज्ञान की कमायी में शंका नहीं, कोई लूट नहीं सकता है। तो जरा धन और ज्ञान इन दोनों का मुकाबला तो करो। ज्ञान में तो आदि से अंत तक लाभ ही लाभ है और धन में लाभ नहीं है। मान लिया कि मैं अच्छा हूँ, मेरी इज्जत है, पोजीशन है और धन से क्या हो सकता है ? मान पोषण । अभी जो भिखारी लोग भीख माँगते हैं वे २०-५० जब इकट्ठे होते हैं तो उनमें जो अच्छे ढंग से भीख माँगना जानता है, जिसने सबसे ज्यादा भीख माँग लिया वह उनमें से अपने को महान् समझता है। वह समझता है कि ये सब मुझसे छोटे हैं। तो कहाँ अपना सुख ढूँढ रहे हो, मुकाबला तो करो जरा धन का और ज्ञान का।

लक्ष्मी व सरस्वती का प्रायः अमिलन—पंडित विद्वान कवि लोग ये फक्कड़ देखने में लगते हैं, किंतु सन्तोषधन से भरपूर हो सकते हैं ये। कहते हैं ना कि लक्ष्मी और विद्या की हमेशा लड़ाई रही, जहाँ उल्लू वाहन हो वहाँ हंसवाहन नहीं रहता। लक्ष्मी की सवारी क्या बतायी ? लक्ष्मी उल्लू पर सवार रहती है और सरस्वती हंस पर सवार रहती है। ऐसे विरुद्ध सवारी वाले ये दोनों इकट्ठे कहाँ मिलेंगे ? अभी कुछ यहीं देख लो कि संतुष्टि अंतःप्रसन्नता सरस्वती याने ज्ञान की ओर झुकने में रहती है या लक्ष्मी की ओर आँख फाड़ने में रहती है ? अरे कोई यह

सुनकर बुरा न मानें, वे समझ लें कि हम लक्ष्मी वाले हैं , नहीं तुम अपने आपको यह समझ लो कि हम लक्ष्मी वाले हैं ही नहीं। फिर बुरा कैसे लगे ? अपने से विशाल धनिकों पर दृष्टि दो फिर आप किसे कहेंगे कि यह धनी है ? नाम फिर बतावो भैया, आप लोग कोई कमेटी बनालो निर्णय कर लो कि किसको धनी कहा जाय ? कर लो निर्णय । और निर्णय हो जाय तो हमें भी बता दो, क्योंकि हमें जगह-जगह जाना पड़ता है तो हम लोगों को सुना देंगे। क्या आप लाख वाले को धनी कहेंगे ? जरा लाख वाले के सामने किसी करोड़पति को खड़ा कर दो तो लो वह लखपति उसके सामने गरीब हो जायेगा।

ज्ञान में सर्वदा निराकुलता—भैया ! धन के अर्जन में आदि से अंत तक कहीं चैन नहीं ,किंतु ज्ञान के अर्जन में आरम्भ से अंत तक लाभ ही लाभ है। अनन्त कर्म कटे, आनन्द मिले, जरा भी क्लेश न रहें। धन में केवल कल्पना से जरा सा सुख मानते हैं, सो वह सुख भी क्षोभ के काल में हो रहा है। भैया ! विषयों का सुख शांति से कोई नहीं भोगते, क्षोभ करके आकुलता करके भोगते हैं। आकुलता दोनों जगह है। सांसारिक सुख में और विपत्तियों में। बस केवल नागनाथ और सांपनाथ जैसे शब्दों का भेद है। इन्द्रियों को कोई बात सुहावनी लग गयी तो क्या वहां अनाकुलता प्रकट होगी ? खूब देख लो। कोई विषय इन्द्रियों की असुहावना लगेगा। तो क्या उस इन्द्रिय सुख से कोई ऊंची नीची दशा पा लिया ? क्या उस सुख में दुःख से कोई ऊंची दशा पाली ? दोनों ही जगह आकुलता प्राप्त हुई।

आराम व संकट दोनों में आकुलता—आप लोग जैसे मान लो भिण्ड से कहीं जाते हैं तो टिकट लेने में आकुलता, गाड़ी आने पर सीट लेने में आकुलता, फिर अच्छी सीट मिलने पर आकुलता, गरीब लोग खड़े हैं आप सीट पर पड़े हैं पर पैर अच्छी तरह फैला न पाने में आकुलता। पैर भी पसर गये तो अहंकार कर करके आकुलता मचाई जाती है। जगह-जगह देख लो आकुलता ही भरी है। दूसरे से अपने को बड़ा मानने में भी आकुलता है। अब तो हमें अच्छी जगह मिल गयी ऐसा हर्ष मानने में भी आकुलता है, और जब बेकार बैठ गये ना, दुःख न रहा तो विकल्पों की कूदाफांती चलने लगी, देख लो सब दशाओं में उनकी आकुलता। खाने पीने में भी देख लो, कौन शांति से कौर उठाता और मुंह चलाता है ? अशांति से ही उठाता है। शांति होती तो कौर उठाने की क्या जरूरत थी ? सभी इन्द्रियों के भोग आकुलता से भोगे जाते हैं।

ज्ञान की अर्ज्यता—भैया ! ये वैभव तृष्णा के योग्य नहीं है। तृष्णा के योग्य हैं, जिसे कमावो खूब, ऐसी कोई चीज है तो वह है ज्ञान। तो जब वास्तविक वस्तुस्वरूप का ज्ञान होता है तो इस जीव को अनाकुलता होती है। जानता है कि मेरा कहीं कुछ बिगाड़ नहीं है। घर गिर गया

तो क्या, कोई गुजर गया तो क्या, किसी के इज्जत न की तो क्या ? यह सब पर पदार्थों का परिणमन है। किसी ने मेरा नाम नहीं लिया तो क्या ? ये सब परपरिणमन है। यहां करने के योग्य तो कुछ काम ही नहीं है। किया भी नहीं जा सकता ।

आत्मा की परिपूर्णता—यह मैं आत्मा परिपूर्ण हूँ, कृतार्थ हूँ। क्या मैं अधूरा हूँ जो कुछ बनने को पड़ा हूँ ? नहीं, मैं तो सत् हूँ, परिपूर्ण हूँ। हममें जब जो परिणमन होता है वह पूरा ही होता है। अधूरा कोई भी परिणमन नहीं होता है। बुरा परिणमन मैं तो पूरा का पूरा परिणम गए, अच्छा परिणम तो पूरे के पूरे परिणम। हम अधूरे हैं कहाँ ? मैं पूर्ण हूँ, और मुझमें से जो निकलता है वह पूर्ण ही निकलता है और देखो पूर्णों की परम्परा कि दूसरा पूर्ण निकलता है तो पहिला पूर्ण, पूर्ण विलीन हो जाता है। पूर्ण विलीन हो जाता है, फिर भी यह पूर्ण रहता है और इस पूर्ण आत्मतत्त्व में से पूर्ण-पूर्ण परिणमन चलता रहता है। यहाँ और क्या नाता है किसी से ? यह मैं आत्मा न पर का कर्ता हूँ, न पर का भोक्ता हूँ। यह मैं प्रभुवत् ज्ञान और आनन्दस्वरूप ही हूँ। जिसका कार्य ज्ञाता दृष्टा रहना और आनन्दमग्न होना है।

ज्ञानप्रतिगमन—भैया ! किसी भी परपदार्थ से हठ कर लिया जाय, यह कितना उल्टा काम है ? किसी क्षण यह जीव अन्य सभी को भुलाके केवल ज्ञानज्योति का ही दर्शन करे तो इसके अनाकुलता होगी। बोलते हैं ना, तमसो मा ज्योतिर्गमय। हे ब्रह्मस्वरूप ! तू अंधकार से उठा और मुझे ज्योति में ले चल। मा का अर्थ है मुझको। यह मा निषेधात्मक शब्द नहीं है। अंधकार है मोह का और ज्योति है यथार्थ ज्ञानका। तो उस अंधकार से निकालकर हे आत्मन् ! अब तुम उस ज्योति में ले चलो, ज्ञान में ले चलो।

मोही के मोह की अरुचि का अभाव—देखो तो भैया ! जो बात भोगते भोगते पुरानी हो जाती है या जिस मित्र से मिलते-मिलते बहुत दिन हो जाते हैं उससे अरुचि हो जाती है। जैसे पाहुनों की यह दशा है। पहिले दिन रहा तो पाहुना, दूसरे दिन हे तो पई, तीसरे दिन रहे तो बेशरम सई। तो बहुत दिन रहने के बाद उसका उतना आकर्षण नहीं रहता। उससे अरुचि जग जाती है। मगर यह जीव अज्ञान के साथ अनादि से रह रहा है, पर इसे अज्ञान से अरुचि नहीं होती। मोह मोह में ही पल रहा है पर मोह से अरुचि नहीं होती।

संकट सहकर भी संकट के आश्रय का मोह—घर के बच्चा चाहे कितना ही दुःखी हो जायें, पोता मारें, नाती मारें, सिर पर चढ़े, बच्चा रोने भी लगे, पर कितना ही समझावों कि बच्चा क्यों दुःखी हो रहे हो। अरे घर छोड़ दो, देखो आश्रम में रहो, अमुक संग में रहो, तुमको बच्चे दुःखी

कर रहे हैं। बहुवें भी तुम्हें अच्छी तरह नहीं रखती, खाने का टाइम आया तो कह दिया कि लो, टूंस लो सारे क्लेश हैं। अरे जरा घर छोड़ दो, आराम से रहो आश्रम में सत्संग में। तो बब्बा उत्तर देंगे कि वे बच्चे, लड़के, पोते हमें चाहे मारें, चाहे पीटें, पर वे हमारी नाती पोते मिट तो न जायेंगे। हम उनके बब्बा ही बने रहेंगे, वे हमारे नाती पोते ही बने रहेंगे। बब्बा को यह पता है कि हमारे नाती और पोते का सम्बंध सारी दुनिया जानती है, भगवान के यहाँ रजिस्ट्री है। ये तो न मिट जायेंगे। मोह में पगे रहते हैं।

पर्याय का व्यामोह—भैया ! मुनिराज से एक राजा ने उपदेश सुना। राजा ने अपना भव मुनिराज से पूछा। तो मुनिराज ने बताया कि फलाने दिन इतने बजे मरकर फलानी जगह तुम संडास में कीड़ा बनोगे। राजा इस बात को सुनकर बड़ा दुःखी हुआ। लड़कों से कहा कि देखो अमुक समय पर अमुक जगह में मैं विष्टा का कीड़ा बनूंगा, सो मुझे मार डालना। विष्टा का कीड़ा होना मुझे पसंद नहीं है। अच्छा ददा। वह राजा मरकर कीड़ा हुआ। लड़का उसी स्थान पर उसी समय पहुंचा। उसने टट्टी में वह कीड़ा देखा। जब कीड़े को मारना चाहा तो वह कीड़ा उसी मल में घुस गया उसने मरना नहीं चाहा। इसी तरह जो जीव जिस पर्याय में पहुंचता है वह उस पर्याय में मोही हो जाता है। अब यह बतलावो कि गैया के जो बछड़े हैं वे उस गैया के लिए अच्छे हैं या तुम्हारे लड़के ? गैया के बछड़े ही अच्छे हैं। गैया से पूछो कि उसे कौन अच्छे लगते हैं? तो उसे तो अपने ही बछड़े अच्छे लगते हैं। तो यह जीव जिस जगह जाता है उसी जगह के समागम में मोह में आसक्त हो जाता है। तो जरा ज्ञान को संभालो अपना कहाँ कुछ नहीं है। पर कुटेब ऐसी लगी है कि छोड़े नहीं जा रहे हैं। छोड़कर तो सब कुछ जाना ही पड़ेगा। अपने ही आप पर दृष्टि दें और इस दुर्गम समागम से लाभ उठावें।

जैनसिद्धांत का अतुल मूल उपदेश—बन्धुवों ! चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर की जन्म-जयन्ती आज मनायी जा रही हैं। जैनधर्म के सम्बंध में और महावीर भगवान के सम्बंध में पूर्ववक्तावों ने बहुत कुछ कह ही दिया हैं। जैसे कि पंडित सुमतिचंद्रजी शास्त्री ने बताया कि जैनधर्म के संस्थापक भगवान महावीर नहीं थे किंतु अनादि से ही यह धर्म चला आ रहा हैं। जैनधर्म कहो, वस्तुधर्म कहो, आत्मधर्म कहो सबका अर्थ एक हैं। तो कोई पूछे कि जैनधर्म की वे विशेषताएँ तो बतावो जो सबसे निराली विशेषताएँ हों और जिनके बिना हमें कोई शांति का मार्ग न मिल सके तो, वह विशेषता है केवल एक वस्तुविज्ञान की। पापों का छोड़ना सभी कहते हैं, तपस्या में लगना सभी कहते हैं, और यह जैनधर्म में भी बताया है। राग-द्वेष कषाय बुरी चीज हैं। जिसके कारण परेशानी रहा करती है। सब सुखी हैं, पर जहाँ राग का कोई भाव आया और

किसी से बैर विरोध का भाव आया वहाँ दुःखी हो जाते हैं। तो रागद्वेष हटना सब कहते हैं पर ये सारी चीजें कैसे बनें ? उसका मौलिक उपाय क्या हैं ? वह उपाय साधु संतों ने बताया हैं। सो जो पारखी होता हैं, जौहरी होता हैं, वह उनके मर्म को और गुणों को जानकर हर्षोल्लसित हो जाता हैं। मूल उपाय यह बताया है कि तुम जगत के सभी पदार्थों का यथार्थ ज्ञान तो कर लो।

वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान—यथार्थ ज्ञान के मायने यह हैं कि कोई भी पदार्थ अपने आप अपनी ओर से अपने अस्तित्व के कारण स्वयं कैसा है, यह जान लिया तो सारे क्लेश मिट जायेंगे। आज जो इतने अन्याय हो रहे हैं और सभी कर रहे हैं पूर्व वक्ताओं ने बताया और जगह भी कहते हैं कि जैन समाज परिग्रहवाद में मस्त हैं, या कदाचित् कभी ईमानदारी से गिर जाते हैं। हम तो देखते हैं कि यह दुष्काल का प्रभाव है कि जैन ही क्या सभी लोग प्रायः ईमानदारी से हट कर कुदृष्टि में मस्त हैं। व्यापार करने वाले व्यापार के ढंग से अपना दाव बनाकर अन्याय करते हैं तो सर्विस वाले रिश्वत लेकर मस्त होते हैं। जिनसे रिश्वत लेते हैं जो रिश्वत देते हैं उनके दिल से पूछो कि उन्हें दुःख होता है या नहीं। और एक-एक की बात कहें तो किसी को बुरा मानने की बात नहीं है। सभी की बात कही जा रही हैं। इन अन्यायों का मूल वस्तुस्वरूप का अज्ञान हैं।

परिज्ञान का दुरुपयोग—वकीलों का धर्म था कि सच्ची घटना हो तो उसकी पैरवी करें। और जान रहे हैं कि यह घटना झूठ है तो भी उसे हटा नहीं देते कि हम वकालत न करेंगे और हम ईमानदारी से वकालत करेंगे। बात झूठ भी है फिर भी कहते हैं कि अच्छा तुम्हारा काम ठीक हो जायेगा। तो जानबूझ कर झूठी घटना सही साबित करने की कोशिश करना, रिश्वत लेना, क्या इसे ब्लैक न समझेंगे। उनकी बात अच्छा छोड़ो, अफसर लोग क्या रिश्वत नहीं लेते हैं। वैसे हम इन बातों में घुसे नहीं हैं पर हम तो समझते हैं कि काल के प्रभाव से ऐसा ही सर्वत्र प्रायः होता हैं। हमीं त्यागी लोगों को देखो-जैसी भीतर में बात है उसके अनुसार ही कहाँ बाहर में अपनी वृत्ति रखते हैं। तो यह क्या हम त्यागी लोगों का ब्लैक नहीं है? यह दुष्काल का ही प्रभाव है कि ऐसा ब्लैक चल रहा है। हम सबकी कह रहे हैं बुरा नहीं मानना। अफसर डॉक्टर त्यागी संयमी, सर्विस वाले सभी लोग ऐसा करते हैं।

साक्षिता की मट्टीपलीत - कहते हैं कि गवाह का दर्जा जज से भी बड़ा होता है। गवाह उसे कहते हैं जो साक्षी हो। जैसा देखा हो वैसा ही कहने वाला हो। किंतु जज स्वयं कह देता है कि अरे तुम्हारा गवाह भी हैं ? इसका पूछने का मतलब है कि तुम्हारे पक्ष की कोई बात कहने वाला हैं? नहीं तो यह कहता कि तुम्हारा इस घटना का कोई गवाह है। वादी प्रतिवादी से न

पूछकर सत्य क्यों नहीं पूछता कि इस घटना का कोई गवाह है क्या ? जज जब यह पूछता कि तुम्हारा गवाह कोई भी है तो वह कहता है कि हां हां ठहरो ५ मिनट, अभी गवाह बाहर से लाते हैं। वह गया बाहर किसी से कह दिया कि यों कहना है तुम्हें २) देंगे। वह दो रूपये लेकर वैसा ही कह देता है। तो क्या यह ब्लैक नहीं है ?

वीतरागधर्म की मान्यता वालों में अन्याय की खटक—भैया ! अपराध की बौछारों से अब अधिकतया जैनियों को ही परेशान किया जा रहा है, उन्हें ही लोग कहते हैं इसका कारण क्या है ? इसका कारण यह है कि जैनधर्म के प्रति दुनिया की निगाह स्वच्छता की भरी हुई है। इसलिए दुनिया की निगाह जैनियों पर ही जाती है कि ऐसा ऊँचा तो धर्म है, फिर ये क्यों करते हैं? एक-एक सुधरे तो सब सुधरें। अब हम तो तुमसे कहें और हम खुद न सुधरें, तुम तीसरे से कहो और खुद न सुधरो तो इसका मतलब है कि एक भी नहीं सुधरा और क्रम क्रम से एक-एक सुधरे तो सुधरने की संख्या ज्यादा मालूम पड़े। लोग यह सोचते हैं कि दूसरों से बातें खूब कहे, अपन न सुधरे तो क्या हुआ, १० लोग और तो सुधर जायेंगे। पर ऐसा ही सब सोच रहे हैं कि मैं न सुधरूँ और ये सुधर जायेंगे तो कौन सुधरा ? बतलावो।

प्रत्येक के दुर्विचार में सामूहिक विडम्बना—एक बार किसी राजा ने मंत्री से पूछा कि मंत्री यह तो बतलावो कि अपने नगर में सभी प्रजा लोग सच्चे आज्ञाकारी है या नहीं और भक्त हैं या नहीं तो मंत्री कहता है कि महाराज न कोई भक्त हैं और न कोई आज्ञा मानने वाला है। राजा ने कहा कि ऐसी बात नहीं है। हम तो जब नगर में जाते हैं तो प्रजा लोग मार्ग में हमारे सामने हाथ जोड़कर सिर नवाते। मंत्री ने कहा कि अच्छा हम दो दिन में परिचय करायेंगे। मंत्री ने नगर में इतला करा दिया कि महाराजा को ५-७ मन दूध की जरूरत है तो आज रात्रि को आँगन में जो हौज है उसमें सब लोग अपने अपने घर से एक-एक लोटा भर दूध डाल दीजिए। सभी घर में बैठे-बैठे सोचते हैं कि सब लोग तो दूध ले ही जायेंगे। अपन एक लोटा पानी ले चलें तो वह पानी उस सारे दूध में खप जायेगा। सभी ने ऐसा सोच लिया। सभी ने एक-एक लोटा पानी डाला। पानी से सारा हौज भर गया। सुबह देखा गया तो सारा का सारा पानी था।

हित की आवश्यकता—भैया ! क्या यह ब्लैक नहीं है ? जो धर्म के नाम पर खूब भाषण झाड़े और उसके अनुरूप अपना सुधार न करें। बोलने के समय अपनी शांतमुद्रा बनालें और अभी बैठे-बैठे गुस्सा हो रहे थे। तो क्या यह ब्लैक नहीं है ? तो यह सब काल का प्रभाव है। पर चिंता कुछ नहीं करना है। इस संसार में न तो कोई आपको जानता है और न कोई हमें जानता है।

यहाँ तो चुपचाप अपने में घुसकर अपने में कल्याण की भावना करके अपना सुधार करलें और बिदा हो जायें। यह काम करने का है, बाहर में निगाह डालने का, पैर पसारने का काम नहीं है। ऐसा कोई कर सके तो वह है आत्मवीर और जिसका भवितव्य ठीक होगा वह ऐसा कर सकेगा।

यहाँ यह बात कह रहे हैं कि जिन शासन की सबसे प्यारी देन है वस्तुविज्ञान। पदार्थ स्वयं कैसी है, जो विज्ञान से सिद्ध हो, युक्ति से सिद्ध हो, बाबा वाक्यं प्रमाणं में बहाना न पड़े वह वस्तुविज्ञान है। हाथ में रखकर सामने चीज रखकर देख लो खूब कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है। पदार्थों में मिला जुला जो है उसकी बात नहीं कह रहे हैं। जो एक है। जैसा एक एक जीव है और एक-एक अणु है आदि। ये दिखने वाले सब धोखा है, मिटने वाले हैं। एक-एक अणु एक-एक जीव ऐसे सभी पदार्थ ले लो। वे सब पदार्थ जो अपना परिणमन करेंगे, अपनी अवस्था बनाएंगे। वे पदार्थ अपनी अवस्था में ही तन्मय होते हैं, दूसरे की अवस्था में तन्मय नहीं हुआ करते हैं। खूब निगाह रखकर देख लो। प्रत्येक पदार्थ अपनी नई अवस्था बनाते हैं पुरानी अवस्था विलीन करते हैं और वे वहीं के वहीं बने रहते हैं। जो पदार्थों का स्वभाव पड़ा हुआ है इसी को सत्त्व रज तम कहो, इसी को उत्पाद व्यय ध्रौव्य कहो, यही पदार्थ का स्वरूप है।

शान्ति का मूल वस्तु का सम्यक्ज्ञान—पदार्थ का यह परिपूर्ण स्वतंत्र स्वरूप जानने में कमाल क्या है ? चमत्कार क्या है कि जहाँ यह समझ में आ गया कि प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप से बाहर नहीं जा सकता। न बाहर किसी का कुछ काम है। यदि ऐसा ही मैं अपने को जानूँगा तो मोह न रहेगा, बैर किसी से न मानूँगा, किस पर बैर किस पर राग ? जब राग और बैर की भावना है तो ब्लैक और क्या चीज हैं? जब तक अन्तर में ज्ञान न जग सके, अपने को आकिंचन न मान सके तब तक ब्लैक नहीं मिट सकता। इसलिए भाई अपने-अपने में सुधार की बात में लगें, इसी में भलाई है और इसी से ही दुर्लभ नरजीवन की सफलता है। बाहर कहाँ देखते हो, किसको देखना है ? यह काम कर सके तो समझ लो ठीक है। यहाँ दिखाना नहीं, बनाना नहीं, सजाना नहीं किंतु गुप्त ही गुप्त अपने आप में अपना हित सोचकर अपने में श्रद्धा, दर्शन, ज्ञान बनाएँ और अपने आपके आत्मा का आचरण बनाए तो इससे ही सिद्धि होगी, अन्य प्रकार सिद्धि न होगी।

वस्तु निरख की दृष्टियाँ—पारखियों के परखने की दृष्टियाँ चार होती हैं—परमशुद्ध निश्चयनय, शुद्ध निश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय और व्यवहारनय। परमशुद्ध निश्चयनय में पदार्थ का शुद्धस्वरूप, मात्र स्वभाव देखा जाता है। उसके न बंध है, न मोक्ष है, न संयोग है, न वियोग है, न कर्तापन है, न भोक्तापन है, सर्व प्रकार की कल्पनावों से रहित केवल शुद्ध चैतन्य स्वरूप का जो परम

शुद्ध निश्चयनय बताया है वह अनादि अनन्त सर्व आत्माओं से अंतःप्रकाशमान हैं। जो जीव परिणमन में अशुद्ध भी हो रहे हैं वे जीव भी स्वरसतः परमशुद्ध निश्चयनय के विषय के अनुसार अंतःस्वरूपी है।

हित का वास्तविक आश्रय—जीव अशुद्ध है वर्तमान में और यह वस्तु का स्वरूप है कि जीव किसी पर का आलम्बन नहीं कर सकता। परपदार्थ इसके उपयोग के विषयभूत तो होंगे पर किसी परपदार्थ का आश्रय नहीं किया जा सकता क्योंकि अपने आपसे बाहर अपना आश्रय नहीं बन सकता। बाहर अपने प्रदेश हैं नहीं, तो किसके आश्रय रहें ? सो पर पदार्थ में यद्यपि अरहंत व सिद्ध अनन्त प्रभु हैं किंतु किसी परपदार्थ का कोई अन्य वस्तु आश्रय नहीं कर सकता। भक्त तो केवल अपने गुणों का परिणमन बनाकर रह जाता है, गुणों का स्मरण रूप परिणमन करके रह जाता है किंतु किसी परमात्मा का हम आश्रय नहीं कर पाते हैं, उनमें हम प्रवेश नहीं कर सकते हैं, उनका हम अपनी ओर आकर्षण नहीं करा पाते हैं तो पर से तो विविक्त हो गए और हैं खुद अशुद्ध। यदि इस अशुद्ध को देखें तो शुद्ध का विकास नहीं हो सकता। अशुद्ध के दर्शन से अशुद्ध के प्रत्यय और आलम्बन से अशुद्ध परिणमन ही होगा। तब किसका आलम्बन लें जिससे हमारा मोक्षमार्ग प्रकट होवे? वह हैं निज शुद्ध आत्मतत्त्व का आलम्बन।

पारखी के सारभूत वस्तु का आदर—एक राजा की सभा में किसी विद्वान कवि का, विद्वान का अधिक आदर न होता था तो एक विद्वान कहता है कि हे राजन् ! यदि तुम इन लोगों में मंद आदर वाले हो गए हो तो क्या तुम ही एक हमारे प्रभु हो ? यदि उन भिल्लनियों ने जिनको गुन्धियों का ही परिचय है वे यदि मोतियों को पैर घिसने में काम लाती हैं तो क्या वे ही मोतियां पटरानियों के गले में शोभा को नहीं प्राप्त होती ? इसी तरह यदि ज्ञानपुंज इस आत्मतत्त्व का अज्ञानी जनों ने जो किसी प्रतिकूल उदय के कारण अपने सच्चे आशय से जुदा हुए हैं, विषय-कषायों में आसक्त हैं उन्होंने यदि इस शुद्ध सहज आत्मतत्त्व का आदर नहीं किया हैं तो क्या यह सहज आत्मतत्त्वयोगी पुरुषों के उपयोग में विराजमान नहीं होता ?

जैन सिद्धान्त का सारभूत यदि कुछ उपदेश है तो वह यह ही है कि अपने अज्ञान को मिटाना। लोक में कोई किसी के द्वारा बंधा हुआ नहीं। किसी के द्वारा कोई परिचित नहीं, किसी के परिणामाए परिणमता नहीं, किसी से रंच सम्बन्ध नहीं, फिर क्यों यह अपने स्वरूप से चिगकर, बाह्य पदार्थों में दृष्टि देकर अपने क्षण निष्फल खो रहा है ? इस प्रभु के महात्म्य को अन्तर में देखो और अन्तर में ही निवास करके प्रसन्न रहो अर्थात् निर्मल रहो। ऐसा यदि हम

आप नहीं कर पाते हैं तो यह हो-हल्ला का नदी का वेग की तरह बहता चला जा रहा है। यह वापिस लौटकर नहीं समय आने का है।

शुद्धनिश्चयदृष्टि की नजर—इस शुद्ध स्वभावी आत्मतत्त्व में यदि यह विकार आ रहा है अनादि से तो अपने अज्ञान से आ रहा है। ज्ञानी का परम शुद्ध निश्चयनय वहाँ भी केवल अखण्ड आत्मस्वभाव को ग्रहण करता है। इस शुद्धस्वभाव के अनुरूप विकास की ग्रहणिका दूसरी दृष्टि है शुद्ध निश्चयनय की। शुद्ध निश्चय नय का विषय है शुद्ध प्रकाश। अरहंत और सिद्ध प्रभु का जो शुद्ध विकास है उस शुद्ध विकास को यदि इस अपेक्षा से न देखें कि यह कर्मों के क्षय से हुआ है और केवल उनके ही आत्मा को देख कर ही शुद्ध विकास निरखें तो यह विकास का निरखना शुद्ध निश्चयनय का विषय है।

अशुद्धनिश्चयदृष्टि की नजर—अशुद्ध निश्चयनय देखता है पदार्थ की अशुद्ध परिणति। यद्यपि ये पदार्थ परनिमित्त को पाकर ही विभावरूप परिणमते हैं पर निमित्त पाये बिना केवल अपने आप अपने स्वरूप से अपने ही सत्त्व के कारण विभावरूप नहीं परिणमते, फिर भी अशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि किसी पर को न निरखकर केवल एक को देखने की है। इस अशुद्ध परिणत एक की इस दृष्टि में जो जीव रागी है, द्वेषी है, विभावरूप परिणमने वाला है, यह निरखा जाता है। इसे निश्चयनय इसलिए कहते हैं कि उपाधि के निमित्त से पर को नहीं देखता यह।

व्यवहारनय की नजर—व्यवहारनय का विषय है वैज्ञानिक विषय। निमित्तनैमित्तिक भाव देखना, सम्बंध निरखना, उनका कार्यकारण भाव देखना यह सब है व्यवहार का विषय। कर्मों के उदय का निमित्त पाकर आत्मस्वभावरूप परिणमता हुआ कैसा यह व्यवहारनय का विषय है ? व्यवहारनय में यह बात ज्ञात होती है कि ये रागादिक भाव जीव के नहीं हैं। पुद्गलकृत हैं, नैमित्तिक भाव हैं, पौद्गलिक हैं।

नयों के निर्णय से कल्याण मार्ग में सहयोग—इन चार दृष्टियों से जो चार प्रकार का निर्णय होता है ये चारों ही निर्णय आत्मा को कल्याणमार्ग में प्रेरणा देते हैं। परम शुद्ध निश्चयनय तो स्पष्ट कल्याण मार्ग दिखाता है। देखो इस अपने अन्तर में विराजमान शुद्ध चैतन्यस्वरूप को, इसकी दृष्टि के प्रसाद से सर्व मल दूर हो जायेंगे, गुणों का विकास होगा। तुम तो परमार्थतः जैसे हो वैसे मान लो। क्या फल होगा इसका कुछ विचार न करो। परम शुद्ध निश्चयनय कल्याणमार्ग की सीधी प्रेरणा देता है। शुद्ध निश्चय नय जैसा शुद्धस्वभाव के अनुरूप शुद्धविकास हुआ है उस शुद्धविकास को देखकर अन्य की दृष्टि हटाकर उस शुद्ध विकास की दृष्टि के मार्ग से शुद्ध स्वभाव में पहुँचाता है। यह कोमल प्रक्रिया है, सुकुमार पुरुषों की औषधि है,

उन्हें खेद न हो, शीघ्र शुद्ध स्वभाव में उनकी पहुंच बने इसके लिए परमात्मस्वरूप का स्मरण है। जैसा वह स्वरूप प्रकट हुआ है ऐसी ही वह शक्ति है, अतः उस परम शुद्ध निश्चयनय के विषय में पहुंचना सुगम होता है।

अशुद्ध निश्चयनय के मार्ग से भी साधक का कल्याण की ओर गमन—तीसरे अशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि में भी प्रयोजन यह है कि निज अखण्ड स्वभाव में पहुंच बने, पर यह कुछ कठिन मार्ग है। नीचा ऊँचा मार्ग है, जिस शुद्ध स्वभाव के विपरीत यह परिणमन है, इस विपरीत परिणमन को निरखकर हम शुद्ध स्वभाव में पहुंच जायें, इसमें बड़ा बल चाहिए। असम्भव नहीं है, किंतु कठिन है। असम्भव तो यों नहीं हैं कि मार्ग निश्चय का अपनाया है। इस अशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि में भी इतनी शुद्धता है कि किसी पर पदार्थ को नहीं देखा जा रहा है और इस शुद्ध नीति के कारण इस मार्ग से इस नय की मल पद्धति से परम शुद्ध अखण्ड स्वभाव में पहुंच सकते हैं।

अशुद्धनिश्चयनय की गतिविधि—यहाँ देखा जा रहा है कि यह आत्मा रागरूप परिणम गया। यह आत्मा अमुक विभावरूप परिणम गया। ईमानदारी यह हुई कि कल्पना में भी निमित्त या आश्रयभूत परपदार्थ की दृष्टि नहीं होती। सो अशुद्ध निश्चयनय प्रयोजन में सफल हो सकता है। जहाँ पर की दृष्टि हटे, तो यह राग परिणमन तो परदृष्टि रूपी जल को पाकर ही हरा भरा हो रहा था, सो जब उसके पालन पोषण का जरिया खत्म कर दिया गया तो यह कब तक बना रह सकता है। इस अशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि में प्रथम अशुद्ध परिणमन नजर आता है, मगर यह अशुद्ध परिणमन कहाँ से उठा है, किस उपादान से चला है ? वह कौनसा ध्रुव तत्व है जहाँ से यह अशुद्ध परिणमन गिरा है ? उसकी दृष्टि आ जाना प्राकृतिक बात है। क्योंकि अशुद्ध निश्चयनय में भी शुद्ध नीति बनी हुई है।

शुद्धनीति का बल—जो मनुष्य अपनी शुद्ध नीति से चिग जाता है विडम्बना उसको ही हुआ करती है। यहाँ अशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि में उपासक ने अपनी विविक्तता की नीति नहीं छोड़ी। तो अन्दर ही अन्दर गुप्त ही गुप्त जिसे स्वरूप की जिज्ञासा हो, चाहे कैसी ही गति हो कि राग परिणमन कुछ हो गया, पर उसके तो जिस पदार्थ से राग परिणमन का उद्गम हो वह पदार्थ मुख्य हो गया और इस प्रकार इस अशुद्ध निश्चयनय मार्ग से भी यह जीव अखण्ड शुद्धस्वभाव पर पहुंच जाता है।

व्यवहार का कल्याण की प्रयोजकरूप में उपयोग—अब रही चौथी दृष्टि व्यवहार नय की। व्यवहारनय का मार्ग भी उस अखण्ड अद्वैत स्वभाव में पहुंचाने का प्रयोजन रखता है। जैनेन्द्र

उपदेश में कोई भी ऐसा वचन नहीं है जो कल्याण मार्ग के लिए न हुवा हो, जैसे आगम में छोटे बच्चों की बालबोध किताब से लेकर बड़े योगियों के समयसार ग्रन्थ तक समस्त ग्रन्थों के अवलोकन में पद-पद पर वीतरागता का प्रयोजन मिलेगा। जिस धर्म की जो नीति है वह हट गयी तो वह उस धर्म का ग्रन्थ ही नहीं रहा। तो जैसे हमें वहाँ प्रतिपाठ में वीतरागता का उपदेश मिलता है इसी प्रकार प्रभु के उपदेश से सभी नयों में हमें कल्याण का मार्ग मिलता है सो है ही, मगर कुनय के परिज्ञान से भी हमें कल्याण का मार्ग मिलता है। कैसे मिलता है सो अभी बतावेंगे।

व्यवहारनय से शिक्षा—व्यवहारनय ने यह बताया कि ये रागद्वेष भाव पुद्गल का निमित्त पाकर उठे हैं। इनसे हमें शिक्षा क्या लेनी है कि ये मेरे स्वभाव से नहीं उठे हैं। मेरा स्वभाव तो शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूप का आलम्बन कराने के लिए व्यवहारनय का उद्गमन हुआ है। कुनय के परिज्ञान तक से हम किसी प्रकार कल्याणमार्ग पर जा सकते हैं। कुनय को कुनय समझ लें तो कल्याण के मार्ग पर जा सकते हैं और कुनय को यदि हम सुनय समझलें तो मेरी फिर दृष्टि में कुनय है ही नहीं, फिर उस दृष्टि से हितमार्ग में नहीं जा सकते हैं।

उपचरितोपचरित असद्भूतव्यवहार से शिक्षा—एक कहलाता है उपचरितोपचरित असद्भूत व्यवहारनय । शरीर मेरा है, यह तो उपचरित असद्भूत व्यवहारनय है। इसमें आश्रय-आश्रयी का सम्बन्ध है। पर धन मकान मेरा है यह तो तेज महा मोह का नशा है। उपचार में भी उपचरित ऐसा झूठ यह कथन है, यह बात यदि मालूम पड़ जाय तो इस कुनय के यथार्थ ज्ञान से कल्याण नहीं होगा क्या ? झूठ को झूठ जान लीजिए तो उस झूठ के उपदेश से भी हमें शिक्षा मिली। तो जो कुछ जिनवाणी है वह सब कल्याण के लिए है।

निर्विकल्प पद का उद्यम—भैया ! व्यवहार में कर्तृत्व है, भोक्तृत्व है, बंध है, मोक्ष हैं, किंतु अपने आप के केवल अपने आपको निरखने पर न बंध है, न मोक्ष है, न कर्तृत्व है, न भोक्तृत्व है, किंतु वहाँ केवल ज्ञातृत्व है। आगमों का खूब अभ्यास कर लें, खूब जान जायें, क्यों अभ्यास करें ? यों कि जानकर उन सब विकल्पों को छोड़कर आप खाली और सूने बन जायें। लोग कहते हैं कि हम पहिले से ही खाली बने हैं तो आगम के अभ्यास की जरूरत क्या है ? हम यदि पहिले से ही लट्ठपाड़े रहें तो अच्छा है। जब हमें सब कुछ पढ़ लिखकर योनी कुल मार्गणा गुणस्थान सारी बातें सीख-सीखकर, द्रव्यगुणपर्याय भेद, काल की रचना आदि सारी बातें सीख कर फिर सब भूलकर एक ऐसे शुद्ध, पर से शून्य चिन्मात्र जहाँ तरंग नहीं, विकल्प नहीं, सांसारिक प्रयोजन नहीं, ऐसे तत्त्व पर जाना है क्यों आगम का अभ्यास करें । तो भाई आगम के

अभ्यास बिना, उसका विविध ज्ञान किए बिना इस अद्वैत अथवा शून्य ज्ञानमय चित्स्वरूपमात्र निज तत्त्व पर नहीं आया जा सकता है।

यहाँ यह बतलाया जा रहा है कि जीव का स्वभाव कर्मफल का भोगना नहीं है क्योंकि कर्मफल का भोगना अज्ञान का स्वभाव है। इसी बात को कुन्दकुन्दाचार्य देव इस दोहे में कहते हैं।

अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिदो हु वेदेदि।

णाणी पुण कम्मफलं जाणदि उदिदं ण वेदेदि॥३१६॥

प्रकृतिस्वभावस्थिता का परिणाम—अज्ञानी जीव प्रकृतिस्वभाव में स्थित है, इस कारण कर्मों के फल को भोगता है। परंतु ज्ञानी जीव उदय में आए हुए कर्मफल को जानता तो है पर भोगता नहीं है। भैया ! ज्ञान पाया है, विद्वत्ता पायी है, समझ मिली है तो इन तुच्छ परपदार्थों में चेतन अचेतन में, अन्य पदार्थों में दृष्टि देकर बरबाद करने के लिए नहीं पायी है। कोई भी संकट हों, कोई भी दुःख हों अथवा न हों, अपने आपके इस ज्ञानसरोवर में अपना उपयोग मग्न करके कषाय मंद कर जब चाहें शांत हो लें, जब चाहें प्रसन्न हो लें। जहाँ अपने स्वभाव से च्युत हुए और पर के स्वभाव में स्थित हुए वहाँ ही कर्मफल भोगा जाता है।

प्रकृतिस्वभाव—प्रकृति का स्वभाव है रागद्वेषादिक का परिणमन, अर्थात् प्रकृति के उदय के निमित्त से होने वाले स्वआत्मा का भाव, सो प्रकृति स्वभाव है। उस भाव में जो स्थित है अर्थात् मैं रागरूप हूँ, मैं जैसा चल रहा हूँ वही मैं हूँ। इस प्रकार की जो अपनी हठ किए हुए हैं कर्मफल उन ही को मिलता है, आकुलता और दुःख उन ही को प्राप्त होते हैं। कोई किसी का साथी नहीं है। फिर क्यों कोई भाव बनाकर अपने आपको दुःखी किये जा रहा है ? कुछ रहा तो ठीक, न रहा तो ठीक। कोई कैसा ही परिणामे उसके ज्ञाता दृष्टा रहना है। कितना उत्कृष्ट पाठ यह जैन शासन सिखाता है, पर हम लोग भिल्लनियों की नाई रतन पाकर भी पैरों को उससे धो-धोकर उसकी कीमत नहीं करते और बुद्धपन में ही अपना जीवन गुजार देते हैं।

उत्तम सुअवसर—यह जिन-धर्म का मर्म परम ब्रह्मस्वरूप का परिज्ञान जिसके लिए बड़े-बड़े योगी जंगल में खाक छानते हैं फिर भी नहीं मिलता है, किंतु हमारे आपके सौभाग्य से बना बनाया भोजन इन ग्रन्थों में पड़ा हुआ है। जिन महान् तपस्वियों ने बड़ी साधना करके जो निचोड़ पाया है स्याद्वाद की प्रणाली में उसे ऐसा सही रख दिया है तिस पर भी हम इस ज्ञान की ओर अपनी भावना नहीं बनाते, आकर्षण नहीं बनाते और राग वैर ईर्ष्या वियोग धन संचय और

परिग्रह क्या-क्या बताया जाय उनको ही अपनाते रहते हैं। अब अपने आप पर दया करके अपने आपके प्रभु से बातें करिये।

प्रकृतिस्वभाव से अपसरणका उद्यम—क्या ये विभाव अपने हक में कुछ अच्छा कर रहे हैं ? प्रकृति के स्वभाव में स्थित नहीं होवे। अपने को राग द्वेषादि विभाव रूप मत मान लें। अपने को समझें शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप। यह शरीर भी मेरा नहीं है। यह भी चला जायेगा। और है जब तक यह शरीर बैरी तब तक यह विषयों का आकर्षण करा कर भुलावे में डालकर इस प्रभु पर वैर ही भजा रहे हैं। इस शरीर को जब माना कि यह मैं हूँ तो इस मान्यता के बाद फिर अन्य परपदार्थों से अपना सम्बंध मानने लगता है। जब अन्य पदार्थों के साथ अपना सम्बंध मानने लगा तो वे अन्य पदार्थ उसके अधिकार के तो हैं नहीं। उनके परिणमन उनके उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तता से होंगे, उसकी चाह से न होंगे। तब जैसी चाह किये बाहर में वैसा परिणमन नहीं होता है सो दुःखी होते हैं और जैसी हम चाह किए हुए हैं वैसा परिणमन बाहर में होता है तो भी हम दुःखी होते हैं। एक ओर हर्ष का क्लेश है तो एक ओर विषाद का क्लेश है। क्लेशहीन कोई परदृष्टा नहीं है। उस क्लेश को मिटाने का कोई अचूक उपाय है तो यही है कि प्रकृति के स्वभाव में स्थित मत हो। अपने को रागादिकरूप न मानकर शुद्ध ज्ञानानंदस्वरूप मानें तो ये सारे संकट टल जायें।

प्रकृतिस्वभावस्थिति से बन्धन—अज्ञान उसे कहते हैं जहाँ शुद्ध आत्मा का ज्ञान न हो। अज्ञानी के जब प्यौर (pure) केवल निजस्वरूपमात्र आत्मा का ज्ञान नहीं होता तो वह अपने में और पर में एकत्व का ज्ञान करता है। जब अपना पता तो है नहीं और ज्ञान खाली बैठ सकता नहीं, तो यह ज्ञान किसी को भी जाना करेगा। खुद की तो मनाही कर दे कि खुद को तो न जानेगा तो पर को जानेगा और इस आत्मा में ऐसा स्वभाव भी पड़ा है कि सदा अहं रूप से अनुभव करे, मगर निरन्तर अनुभव बना रहना यह जीव का स्वभाव है। इस ही को कहते हैं श्रद्धान। तो जब स्व और पर में एकत्व का ज्ञान किया और एकत्व रूप से ही देखा और एकत्व रूप से ही परिणमन किया तो अब वह प्रकृति के स्वभाव में बैठ गया। अपने स्वरूप में नहीं बैठा। सो प्रकृति के स्वभाव को भी अहंरूप से अनुभवन करता हुआ यह जीव कर्मफल से बँधता है।

बन्धन का लौकिक उदाहरण—जिस मकान को मान लिया कि यह मेरा है उस मकान की दो ईंट भी खिसक जायें तो चित्त से हर्ष खिसक जाता है। ईंट के खिसकने के साथ इस अज्ञान बुद्धि वाले के हर्ष भी खिसक जाता है। यही तो एकत्व परिणमन है। कुछ वस्तुतः एकत्व

परिणमन नहीं हो जाता। किंतु परपदार्थ की परिणति निरखकर अपने में हर्ष विषाद करना, अपना विनाश और विलास समझना, यही तो एकत्व परिणमन हैं। सो यह अज्ञानी जीव कर्मफल को अनुभवता है।

ज्ञानी जीव के विभक्त परिणमन का लौकिक उदाहरण—ज्ञानी जीव को शुद्ध आत्मा का ज्ञान हो गया है, इस कारण निज को निज पर को पर इस प्रकार के विभागरूप से जानता है और निज और पर का विभाग रूप से श्रद्धान करता है, निज और पर का विभागरूप से परिणमन करता है। जैसे दूसरे का मकान गिर जाय तो अन्य कोई दूसरा विभाग रूप से परिणमन किए रहता है। मेरा क्या बिगड़ा, मेरा कुछ नहीं गया। यद्यपि यह मोक्ष मार्ग की पद्धति से विभाग परिणमन नहीं है किंतु दृष्टांत कहा जा रहा है। जब तेज वर्षा होती है तो कई जगह मकान गिर जाते हैं और कोई घर में अकेला ही हो, जवान हो, छोटे-छोटे बालक हों और कदाचित् वही जवान उस मकान तले दबकर मर जाय तो पड़ोसी देखते तो हैं पर वे एकत्व परिणमन नहीं कर पाते, वे विभागरूप से ही परिणमते हैं। कितना खराब काम हो गया, अभी बच्चे छोटे हैं, कथनी भी कर लें और उस परिवार की सेवा के लिए कुछ सहायता भी कर दें, पर विभाग परिणमन रहता है, एकत्व परिणमन नहीं होता।

ज्ञानी जीव का विभक्त परिणमन—भैया ! खुद के सिर में दर्द हो तो उस दर्द का भोगना और दूसरे के सिर में दर्द हो तो उसकी जानकारी करना इन दोनों में कितना अन्तर है ? खैर सिर दर्द का तो पता भी नहीं पड़ता। बुखार का तो स्पष्ट पता पड़ जाता है। खुद को बुखार चढ़ता हो तो कैसा एकत्व परिणमन करते हैं, हाय में मरा जा रहा हूँ। इससे तो अच्छा था कि कोई ओर रोग हो जाता, या कोई और पीड़ा हो जाती । यह तो बड़ा विकट क्लेश हो रहा है। उसमें वह एकत्व परिणमन किए हुए है और दूसरे का बुखार थर्मामीटर से जान लिया कि इसके १०५ डिग्री बुखार है, दया भी करे, उपचार भी करे, फिर भी एकत्व परिणमन नहीं हो सकता। सिर्फ उसके बुखार के जाननहार रहते हैं। यह भी एक लौकिक दृष्टांत है। कहीं ये लोग सम्यग्दृष्टि नहीं बन गए, पर प्रयोजन इतना बताने का है कि जिसको मान लिया कि यह पर है, उसके परिणमन से हर्ष और विषाद नहीं होता है।

ज्ञानी की प्रकृतिस्वभावविविक्तता—ज्ञानी जीव निजआत्मतत्त्व के अतिरिक्त सर्व परपदार्थों को पर मान लेता है। सो स्व और पर के विभाग रूप से परिणमन हो रहा है, प्रकृति के स्वभाव से हटा हुआ है। प्रकृति का स्वभाव है रागद्वेषादिक परिणमन। अपने आप में होने वाले उन विभावों से उपयोग हटा हुआ है। जैसे किसी पुरुष का मन स्त्री पुत्र में नहीं रहा और फिर भी घर में रह

रहा है, तो घर में रहता हुआ भी परिवारजनों से हटा हुआ है। यों ही अपने आपमें अपना ही विभाव परिणमन है और फिर भी उन विभाव परिणमनों से हटा हुआ है। देखा होगा कोई पुरुष गलती करने के एक घंटे बाद समझ जाता है कि मैंने गलती की। कोई पुरुष गलती करने के २ मिनट बाद ही विवेक में आ जाता है कि मैंने गलती की और कोई पुरुष गलती करते हुए के समय ही विवेक में रहता है कि यह गलती की जा रही है। तो जैसे हम लोक में इस तरह के पुरुषों को देखते हैं, यह मोक्षमार्गी हितार्थी पुरुष भी देखो सावधान है कि उसे त्रुटि के समय में त्रुटि विदित होती जा रही है। यही हुआ प्रकृति के स्वभाव से हटना।

अनवधानी का पर में आकर्षण—सो भैया ! प्रकृति के स्वभाव से हटे हुए होने के कारण यह ज्ञानी जीव शुद्ध आत्मस्वभाव को ही अहं रूप से अनुभव करता है। जो ऐसा आत्मावधानी ही है उसका पर में आकर्षण रहता है। अभी भीत में पचासों नाम लिखे हों और आपका किसी का भी नाम लिखा हो तो उसे बहुत जल्दी अपना नाम पढ़ने में आ जायगा और का नाम पढ़ने की अपेक्षा। अपने नाम के अक्षरों को अपने ज्ञान में कैसा बैठाये हुए है ? आधी नींद में हों और कोई धीरे से नाम ले दे तो उसका नाम लेते ही कितनी जल्दी वह जाग जाता है। और उस अधर्नीद वाले पुरुष का नाम न लिया जाय, उसका नाम लिया जाय जो पास में सो रहा है तो उस अधर्नीद वाले की नींद नहीं खुलती। तो इन अपने नाम अक्षरों से कैसा यह रंगा हुआ है कि आकुलित रहता है।

नाम व्यामोह—भैया ! जो आपके नाम में जो अक्षर हैं वे ही अक्षर लाखों पुरुषों के नाम में हैं और कहीं हूबहू वही का वही पूरा नाम हजारों आदमियों का हो सकता है। जैसे एक भिण्ड शहर में ही रामस्वरूप कम से कम ५-७ हैं। ज्ञानचंद भी बहुत होंगे, प्रेमचंद भी बहुत होंगे तो हूबहू इस ही नाम के कई पुरुष हों, लेकिन मालूम पड़ जाय कि इस मेरे नाम के और कई लोग हैं तो अपने नाम के आगे दो अक्षर और लगाना पड़ेगा। नहीं तो फिर उस नाम का अर्थ ही क्या रहा ? मान लो जितने मनुष्य हैं सब मनुष्यों का नाम कचौड़ीमल धर दो तो कोई कचौड़ीमल यह न चाहेगा कि हम किसी काम में ५ हजार लगा दें और कचौड़ीमल नाम आ जाय क्योंकि कचौड़ीमल सभी हैं। लोगों की जानकारी में मैं कचौड़ीमल तो नहीं आ पाया। बौद्ध-शास्त्रों में आस्रव के छोड़ने के प्रकरण में प्रथम आस्रव हेतु नाम बताया है और उस नाम के बाद फिर और और कल्पनाएँ चलती हैं।

नामव्यामोहपरिहार की प्रथम आवश्यकता—भैया ! अपने को किस रूप से अनुभव करना, क्या अमुक नाम रूप से अनुभव करना, क्या किसी जाति कुल शरीर रूप से अनुभवना ? नाम जो कोई धराता है सो बढ़िया ही धराता है। घटिया नाम धराने का जमाना गुजर गया। जब घसीटा, करोड़े, खचोरे और दमड़ीमल ये नाम रखे जाते थे, अब आज तो ऐसे नाम धराने का जमाना नहीं है। तो जिसका जो नाम है उस नाम का अर्थ लगावो और यहाँ देखो कि सभी का ही यह नाम है, क्योंकि सभी इस अर्थ वाले हैं। नाम का व्यामोह छूटना धर्ममार्ग में बहुत आवश्यक है। अपने को अहंरूप से इस तरह अनुभव करें कि जो ज्ञाता है, दृष्टा है, चेतक है वह मैं हूँ, इस तरह अनुभव करने वाला ज्ञानी पुरुष उदय में आए हुए कर्मफल को ज्ञेयमात्र होने से केवल जानता ही हूँ।

आत्मा की विविक्तरूपता—परभाव को अहं रूप से अनुभवने के लिए ज्ञानी समर्थ नहीं है इसलिए कर्मफल का वह भोक्ता नहीं है। कितनी-कितनी प्रकार के विकल्प करके अपने को अनुभवने लगे हैं किंतु वे विकल्प आप के स्वरूप नहीं है। दूसरा कोई शकल देखकर यदि पहिचान जाय तो ठीक हैं आपके विकल्प। उसके शरीर को देखकर चाहे अमेरिकन हो, चाहे अंग्रेज हो, चाहे भारतीय हो वह देख लेगा जैसा रंग है, जितने लम्बे हैं, जो कुछ इसमें हैं, उसको हर एक कोई जान लेगा। हम अमुक संस्था के मैम्बर हैं, अमुक कमेटी के कार्यकर्ता हैं, यह तो कोई न जान पायेगा क्योंकि हम यह हैं ही नहीं। अभी तो इस शरीर की ही बात कही जा रही है। फिर प्यौर(pure) आत्मा का तो रहस्य बहुत मार्मिक है।

भगवान के सत् का व सत्य का ज्ञातृत्व—भैया ! भगवान जैसा जानता है वह सब सत्य है। जो असत्य है वह भगवान नहीं जानते। असत्य को असत्य रूप से जान जाय इतनी भी वहां गुंजाइश नहीं है। यों टेढी नाक पकड़ने का क्या प्रयोजन ? जो है, यथार्थ है, परिणमन है वह सब भगवान जानते हैं। पर यह मकान मेरा है, इनका है इस बात को भगवान नहीं जानते, आप जानते हैं। अरे भैया ! भगवान से होड़ न करो। प्रभु को और सूक्ष्मता से देखो तो जो एक-एक द्रव्य है और उनके भूत, भविष्य, वर्तमान जो जो परिणमन हैं वे सब ज्ञात हैं। अनेक द्रव्यों को मिलाकर जो रूपक बनता है वह असत्य है, मायारूप है। भगवान केवल समस्त द्रव्यों को उनकी त्रैकालिक पर्यायों को एक साथ स्पष्ट जानता है। ज्ञानी जीव यहां के अन्तरात्मा अशुद्ध पुरुषों को भी जानता है, मगर एक रूप से अनुभव करके नहीं जानता है और अज्ञानी पुरुष अशुद्ध को ही जानता है और उसको एक रूप से अनुभव करके जानता है।

आनन्दविघात का हेतु कषाय का भार—जैसे तीन मँढक हों और एक के ऊपर एक चढ़े

हुए हों, चढ़ जाते हैं ना मेंढक एक के ऊपर एक ? तो उन तीनों मेंढकों में सुखी कौन है ? ऊपर का मेंढक और वह कहता है कि-‘हेच न गम’ मुझे कोई परवाह नहीं, अच्छे कोमल गद्दे पर बैठे हैं, तो बीच का बोलता है कुछ कुछ कम। पूरा आनन्द तो नहीं है मगर एक ऊपर चढ़ा हुआ है, मेरी इसलिए कुछ कुछ कम चैन है। है थोड़ी थोड़ी जरूर पर नीचे का कहता है कि मरे तो हम। नीचे कंकड़ों पर पड़ा है, जमीन पर पड़ा है और ऊपर से बोझ लदा है, सो ऐसी तीन तरह की परिस्थितियाँ होती हैं जो अशुद्ध को जाने ही नहीं क्या मतलब ? दृष्टि ही नहीं देता है उसको ‘हेच न गम’ और एक अशुद्ध में पड़ गया, परंतु उससे हटा हुआ रहता है वह कहता है कुछ कुछ कम। और जो अज्ञानी बोझ से लदा हुआ है, पर को अहंरूप से अनुभवता है उसकी दशा है मरे तो हम जैसा।

अधुव का सदुपयोग—भैया ! आज मनुष्य हैं, पुण्य का उदय है सो जरा सी बात पर इतराते हैं, ऐंठते हैं दूसरों पर जोर चलाते हैं, किसी हठ पर अड़ जाते हैं और ये जो पेड़ खड़े हैं यदि ये ही हम होते तो हमारे लिए कहां भिण्ड होता और कहां ये मकान होते, कहां परिवार होता ? तब तो कुछ नहीं था। तो भाई आज मनुष्य हुए हैं तो हमें सदुपयोग कर लेना चाहिए इस अधुव समागम का। विनाशीक चीजें मिली हैं तो बुद्धिमान् वह है कि जिसने विनाशीक वस्तु के उपयोग द्वारा अविनाशी वस्तु को प्राप्त कर लिया।

शुभ अवसर का सदुपयोग—एक नगर में इस प्रकार राजा बनने की पद्धति थी कि एक वर्ष को बनाया जाय राष्ट्रपति, फिर एक वर्ष बाद उसे जंगल में छोड़ दिया जाय। पैन्शन का झगड़ा न रहेगा। एक साल मौज मानने का नतीजा तय कर दिया गया। सो कई लोग राजा बने और बुरी मौत मरे। एक बार एक चतुर राजा बना। उसने सोचा कि एक वर्ष बाद यह नियम हम पर भी लागू होगा, तो एक वर्ष तक तो हम स्वतंत्र हैं, राजा हैं, जो चाहें कर सकते हैं। सो जंगल में खेतीबाड़ी करवाई, पहिले से ही पचास बैल भेज दिये और छोटा सा मकान बनवा लिया। अब जब एक वर्ष पूरा हुआ तो जंगल में फेंक दिया। तो अब क्या परवाह उसे ? सो भैया ! अवसर पाने का लाभ तो लूटना चाहिए। अब यहां कुछ समय के लिए मनुष्य रूपी राजा बन गए हैं, तो अब राजा बनकर जितने समय को हमें पुरुषार्थ की आजादी मिली है हम पुरुषार्थ कर लें, न करें तो मनुष्य रूपी राजा बनकर यह भी हो सकता है कि हमको नीचे फेंक दिया जाय । मनुष्य से बढ़कर और कहां पहुंचेगा ? सो जंगल में फेंका जाय तो चाहे निगोद बने, चाहे विकलत्रय बने, कोई बुद्धिमान् मनुष्य बन जाय तो जितने समय को मनुष्य है उतने समय के लिए तो इसे स्वतंत्रता है।

तत्काल उचित कर्तव्य की आवश्यकता—एक किम्बदंती है कि एक मनुष्य की ऐसी तकदीर बनायी गयी कि वह एक वर्ष तक आनन्द से रहेगा खूब दान करेगा, खूब त्याग करेगा और बाकी ४९ वर्ष तक दुःख में रहेगा, दरिद्र रहेगा, दीन रहेगा। बुद्धिमान् था वह। उसने सोचा कि एक वर्ष का मुझे सुख दिया है तो मैं उस सुख के वर्ष का पहिले ही मैं क्यों न उपयोग करूँ ? सो खूब सम्पत्ति थी, खूब त्याग किया, खूब दान किया, खूब उपकार किया, तो उससे ४९ वर्ष की जो बुरी तकदीर थी वह भी बदलने लगी। बस सारा जीवन अच्छा बन गया। किसी किसी मनुष्य की ऐसी आदत है कि थाली में कोई चीज परसी है, भाजी, दाल, रोटी आदि और बूँदी लड्डू आदि भी परसे हों तो वह यह ख्याल करता है कि भाजी रोटी पहिले खा लें और पीछे फिर मुँह मीठा करेंगे। शायद कोई ऐसा भी सोचता होगा कि पहिले मीठे का आनन्द लें, पीछे फिर देखी जायेगी। और कहो बीच में बूँदी लड्डू कोई परोसने वाला आ जाये तो जिसकी थाली में नहीं है उसे और मिल गया और जिसकी थाली में पीछे खाने के लिए रखा है उसे न परसा जायेगा तो अच्छे दिनों का उपयोग पहिले करो। बुरे दिन फिर यों ही बिना वेदना के निकल जायेंगे। तत्काल ही तो अच्छा कर लो, भविष्य की क्या चिंता करना ?

सत्य अनुभवन का सुफल—जो योग्य है, विवेकपूर्ण हैं, वह सारा काम उठा लेगा। जो पुरुष अपने को अन्य-अन्य रूप नाना प्रकार अनुभवता है उसके विह्वलताएँ होती हैं। और जो अपने को सबसे न्यारा मात्र ज्ञानस्वरूप निरखता है उसके विह्वलता नहीं होती। इस तरह यह सब निर्णय सुनकर अपने आपको ऐसे पुरुषार्थ में लगाना चाहिए कि हम अपने को अधिक समय तक आकाशवत् निर्लेप ज्ञानानन्द स्वरूप एक चैतन्यपदार्थ जो सबसे न्यारा हूँ और कृतार्थ हूँ, मैं अपने आपमें ही जो कुछ करता हूँ सो करता हूँ, मुझे पर मैं कुछ करने का पडा ही नहीं है। निरन्तर अपने में परिणमता रहता हूँ। ऐसा विविक्त ज्ञानज्योतिमात्र अपने आपकी श्रद्धा करें तो कर्म फल के भोगों से बरी हो सकते हैं।

सकल विसवादों का मूल प्रकृतिस्वभावस्थितता—अज्ञानी जीव प्रकृति के स्वभाव में स्थित है अर्थात् प्रकृति के उदय का निमित्त पाकर उत्पन्न होने वाले निज में जो भाव हैं उस प्रकृति स्वभाव को अहंरूप मानकर संतोष किए बैठा है, इसी कारण वह सदा कर्मों के फल का अनुभवने वाला होता है। जड़ एक है और शाखा, पत्ते, फल, फूल कितने बन गए हैं। इसी तरह विसम्वादों की जड़ एक है, उसके सहारे फिर विसम्वाद कितने फैल गए हैं। वह जड़ यही है प्रकृति के स्वभाव में बैठ जाना और उसके विसम्वाद कितने बन गए ? इन्द्रिय के विषय में और मन के विषय में आत्महित जान कर कितना तीव्र अनुराग हों गया है ? उसकी सिद्धि के लिए दूसरों का

न सम्मान अपमान देखा जाय, न सुख दुःख देखा जाय, अपने ही अपने अच्छे भोग उपभोग रूप प्रकृति पड़ने की आफत बन गई है इस मोहग्रस्त अज्ञानी प्राणी को।

अज्ञानियों के महन्तों के प्रति रोष की प्राकृतिकता—जैसे कुत्ता कुत्ते को देखकर भौंके बिना रहता नहीं। कोई हाथी निकले तो मनुष्य बड़े चाव से देखेंगे कि आज पशुराज निकले हैं और कुत्ते भौंके बिना रह नहीं सकते। उस हाथी का ये कुत्ते बिगाड़ेंगे क्या ? कोई बहुत बड़ा बलिष्ठ कुत्ता किसी दूसरे गांव से निकलता हो तो चार दिन के पैदा हुए पिल्ले भी भौंकने लगते हैं। वह बलिष्ठ कुत्ता गम्भीरता से धीरता से चला जा रहा है और वे पिल्ले अपनी बुद्धिमानी समझ रहे हैं। मैंने देखो कैसा आक्रमण किया, कैसा शीत युद्ध किया और वे कुछ कर नहीं सकते। इसी प्रकार यह प्रकृति के स्वभाव में निरत हुआ अज्ञानी स्वयं निर्धन है, सो ज्ञानियों को देखकर रोष करता है, मन में ज्वलन करता है, खुद कुछ कम समझने वाला, कम जानने वाला है किंतु हां कुछ जानने की कुछ डींग होती है तो कुछ समझदार पंडित विद्वानों से रोष करता है और क्या एक कहानी कही जाय, जिसका जैसा उपादान है वह अपने उपादान के अनुसार अपनी प्रवृत्ति करता है। उदय है ना ऐसा, सो बाहर में जिस चाहे को आश्रय बना डालता है।

अज्ञानियों को ज्ञानियों के प्रति रोष की प्राकृतिकता—जो प्रकृति के स्वभाव में पड़ा हुआ है, शुद्ध आत्मतत्त्व की दृष्टि से दूर है ऐसा पुरुष ज्ञानी संतों को भी देखकर मन में रोष करता है। जैसे चोर रात्रि में जगने वालों पर क्रोध किया करते हैं, सो क्यों नहीं जाता, क्यों जग रहा, जग रहा तो आंखें क्यों नहीं फूट जाती—इस तरह से व्यर्थ का रोष करते हैं। इसी तरह जो प्रकृति के स्वभाव में पड़ा हुआ है वह बाहर में ज्ञानी संतों को भी करुणा के भोगने की नजर से नहीं देख सकता है और क्या-क्या विष पड़ा हुआ है इस अज्ञान अवस्था में, सो उसके ये सब फल नजर आ रहे हैं। जन्मते हैं मरते हैं, फिर जन्मते हैं।

दो परिज्ञानों की नितान्त आवश्यकता—भैया ! और ज्यादा न समझ सको तो सीधी बात इतनी तो जान लो कि यह शरीर है सो मैं नहीं हूँ। इस शरीर को देखकर क्या अभिमान करना और इस शरीर की भी क्या ज्यादा संभाल करना ? जो शरीर है सो मैं नहीं हूँ। इतनी तो मोटी बात ध्यान में लावो। और एक यह बात ले आवो कि मेरा काम तो केवल जानने होता है। जो विचार सुख दुःख विकल्प जो कुछ भी बातें हुवा करती है वे मिट जाने वाली बातें हैं। मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा काम तो मात्र जाननहार बने रहना है। सिर्फ इन दो बातों को अपने हृदय में घर कर लें। बड़े की शोभा इसी में है। धनिक हुए हो तो बड़प्पन इसी में हैं, बड़प्पन धन में नहीं है। शरीर अच्छा पाया है, स्वस्थ हुआ तो शरीर का गर्व करने में बड़प्पन नहीं। शरीर से न्यारा

अपने आपके शुद्ध ज्ञायकस्वरूप की रूचि करने में बड़प्पन है।

विसंवादों की जड़ अज्ञान—जड़ एक है और विसम्वाद का कितना बड़ा विस्तार है ? जो अपने को कुछ लोक पद्धति में बड़ा दिखता है वह ईर्ष्या का पात्र बन जाता है। ऐसी मिथ्यामति अज्ञानी जीवों की प्राकृतिक देन है। व्यर्थ का रोष क्यों किया जा रहा है ? जरा देखो कौवा तो कुरूप होता है उसे कुछ लेना देना नहीं है हंस बेचारे से , मगर हंस को देखकर कौवों को चिढ़ हो ही जाती है। वह कौवा मन में रोष कर ही बैठता है। यह सब क्या है? अज्ञान की बात है। एक बार हंस और हंसनी दोनों कहीं चले जा रहे थे उड़ते हुए। रास्ते में रात्रि होने लगी तो एक जगह वे ठहर गए। सो ठहरे कहां थे, जहां कौवे बहुत रहते थे। कौवे से कहा कि भाई रात्रि भर ठहर जाने दो। कहा ठहर जावो। ठहर गए, पर जब सुबह हुआ, हंस हंसनी जाने लगे तो एक कौवे ने हंसनी को रास्ते में रोक दिया। हंस से कहा कि तुम हमारी स्त्री कहां लिए जा रहे हो ? हंस बड़ा परेशान हो गया, बोला भाई क्यों अन्याय करते हो, हंसनी को देखो हमारी तरह स्वरूप है, स्त्री हमारी है तुम्हारी नहीं है। तो कौवा बोला, वाह यह क्या नियम है कि काले की स्त्री काली ही होनी चाहिए ? अरे काले की स्त्री गौर भी होती है, गौर की काली भी होती है। रात भर हमने ठहरने दिया और हमारी ही स्त्री लिए जाते हो। अब हैरान होकर बोला-अच्छा भाई पंचायत कर लो। हमारी स्त्री हो तो हमें देना और हमारी स्त्री न हो तो फंस तो हम गए ही, जो तुम चाहो सो कर लो। सो पंचायत करो।

पक्षवश पंचायत में अन्याय—पंचायत में ५ कौवों को चुना, उनमें एक सरपंच बन गया। अब बयान लिए गए दो कौवों ने यह निर्णय दिया कि यह स्त्री हंस की है और दो कौवों ने कहा कि यह स्त्री कौवे की है। अब सारा न्याय सरपंच के आधीन हो गया। सब बहुत गौर से देख रहे थे कि सरपंच महोदय की क्या दिव्य वाणी निकलती है ? सरपंच बोला कि यह स्त्री कौवे की है। अब तो भाई जो कौवा लड़ रहा था कि यह मेरी स्त्री है वह बेहोश होकर गिर गया। उसके किसी तरह से चोंच में पानी डालने से होश आया। तब पूछा—भाई तुम काहे बेहोश हो गए ? तुम्हारे ही तो मन का फैसला हुआ ना ? वह कौवा बोलता है कि हम बेहोश यों हो गए कि एक तो हम अन्याय पर उतारू थे और पंच सरपंच जिसमें परमात्मा बसते हैं वे सरपंच भी अन्याय का फैसला कर दें, इसका हमें अफसोस है। यह स्त्री मेरी नहीं है और दे भी दे वह स्त्री कौवे को तो वह क्या करें ?

निज प्रभु पर अन्याय—यह सारा जगत् अन्याय और अत्याचार से भरा हुआ है। इन सबकी जड़ है अज्ञान भाव, प्रकृति के स्वभाव में स्थित होना, किंतु ज्ञानी जीव प्रकृति के स्वभाव

से विरक्त रहता है। कितना बड़ा ज्ञान बल है कि खुद में ही भाव हो रहा है और उस ही समय जिस काल भाव हो रहा है उसी काल में उस विभाव से अपने को विविक्त ज्ञानमात्र की श्रद्धा बनाए हुए हैं। यह कितना बड़ा बल है ? ऐसा ज्ञानी पुरुष कर्मफल का अनुभव करने वाला नहीं होता है। इस ज्ञानी की दृष्टि में स्वर्ण पंकवत् विदित होता है। इन सोने चाँदी के गहनों से ही तो कोई शांति न हो जायेगी। नाक को छिदाकर नथ पहिन लिया, तो नाक भी चाहे भरी रहे, सुर्र, सुर्र नाक निकलती रहे, किंतु उसका नाक में पहिनना ही मंजूर है। अरे रूचि न रक्खो आभूषणों की। पहिनना है तो थोड़े पहिन लो, पहिनना चाहिए क्योंकि कोई जरूरत पड़े तो काम आए। पर दृष्टि में तो यह बात बनी ही रहे कि ऐसे श्रृंगार करना ठीक नहीं है।

ज्ञानी की रूचि—भैया ! इस शरीर को ही अपना भगवान रूप जान कर श्रृंगार में मत लगे। कई लोग भगवान का श्रृंगार करते हैं। इस तरह अपने शरीर का श्रृंगार तो मत करो। हो गया साधारणतया। अपनी अधिक दृष्टि रखो अपने आपमें बसे हुए सहज ज्ञायक स्वरूप भगवान की उपासना में। किसी क्षण एक साथ भूल जावो सबको। उससे ऐसा अलौकिक आनन्द प्रकट होगा कि फिर ये सब नीरस लगने लगेंगे। ज्ञानीपुरुष को सिवाय एक ज्ञानमय प्रभु के दर्शन करने और अपने आपमें मग्न रहने के और कुछ नहीं सुहाता।

ज्ञानीपन की उपासना—जैसे कामी पुरुष को स्त्री के अनुराग के सिवाय और कुछ नहीं सुहाता, इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष को निज ज्ञायकस्वभाव की रूचि के सिवाय और कुछ नहीं सुहाता। कितना अन्तर है ज्ञानार्थी और धनार्थी में ? जैसे तृष्णा वाले पुरुष को धन संचय करते रहने के सिवाय और कुछ नहीं सुहाता इसी तरह आत्मगुणों के पारखियों को अपने गुणों के शुद्ध विकास में बने रहने के सिवाय और कुछ नहीं सुहाता। ज्ञानी पुरुष कर्मफल का भोगने वाला नहीं है। दुःख और सुख का फैसला ज्ञान और अज्ञान पर निर्भर है। धन कन कंचन के जोड़ने पर निर्भर नहीं है। जो ज्ञानस्वभाव में स्थित है, अपने को ज्ञानमात्र विश्वास किए हुए है वह पुरुष ज्ञान का ही भोगने वाला है, शांति का ही अनुभवने वाला है, वह कर्मफल का भोक्ता नहीं है। ऐसा नियम जान कर निपुण पुरुष को ज्ञानीपना भावना चाहिए और एक शुद्ध ज्ञानज्योति मात्र जहां केवल ज्ञान का प्रकाश है, विकल्पों का जहां सम्बंध नहीं है, ऐसे शुद्ध आत्मस्वरूप में अपने महान् तेज में निश्चल होकर ज्ञानीपने का सेवन करना चाहिए।

संकटों के विनाश का सुगम उपाय—जैसे जमुना नदी में ऊपर मुँह निकाले हुए कछुवे पर पचासों पक्षी दूटने लगते हैं तो ये सारे बखेड़ा, सारे झंझट मिट जाना केवल कछुवे की पक कला पर निर्भर है कि पानी में ५ अंगुल नीचे डुबकी लगा ले। उसके सारे क्लेश दूर हो जायेंगे, उन

पक्षियों का सारा आक्रमण विफल हो जायेगा। इसी तरह दुःख अनेक लग रहे हैं इस जीव को, निर्धनता का दुःख, लोगों से गाली सुनने का दुःख, घर में भी स्त्री पुत्र आज्ञाकारी नहीं है उसका दुःख, समाज में भी लोग हम से आगे बढ़-बढ़कर चलते हैं इसका दुःख, दूसरे के सम्मान अपमान का दुःख इस तरह इन दुःखों से सब परिचित है, अनेक दुःख तो ऐसे हैं कि जिनकी न शकल है, न रूप है, वे दुःख भोगे जा रहे हैं। किंतु उन सब दुःखों के मिटाने की एक कला है कि इस ज्ञान सरोवर में इस अपने उपयोग को जरा सा डबा लो।

ज्ञानकला का प्रताप—में ज्ञानमात्र हूँ, और कुछ हूँ ही नहीं, बाहरी परिग्रह छिद जायें, भिद जायें, कहीं जीव विलय को प्राप्त हो, वह तो मेरा कुछ ही नहीं, उसका परिग्रह नहीं है, ऐसा निर्णय रखने वाला जो ज्ञानी पुरुष अपने को अपने में ले जाय तो सारे दुःख संकट ये उसके एक साथ समाप्त हो जाते हैं। उनमें यह क्रम भी नहीं होता कि पहिले अमुक दुःख मिटेगा, फिर अमुक दुःख मिटेगा। एक इस कला का अभ्यासी अपने को बनाना, यही काम करना है। बाहरी बातों को उदय पर छोड़िये क्योंकि जब चाहते हुए भी चाहने के अनुसार बाहर में कुछ काम होता नहीं है तो उस काम के पीछे क्यों पड़ा जाय, उसे छोड़ो उदयानुसार, जो काम स्वाधीन है, आत्महित के कर्मों की ओर दृष्टि दीजिए।

प्रवृत्ति में भी निवृत्ति—जो अपने उपयोग को अपने ज्ञानसरोवर से बाहर-बाहर बनाए है उसके ऊपर सैकड़ों उपद्रव आते हैं। जो अपने उपयोग को अपने ही इस आनन्दमय गृह में बसाये हुए है उसको सताने वाला कोई नहीं हो सकता है। अज्ञानी जीव ही कर्मफल का भोक्ता है। ज्ञानी को भोक्ता नहीं कहा। भोक्ता है तिस पर भी भोक्ता नहीं है। जानता है तिस पर भी जानने वाला नहीं है। ५-७ वर्ष के बच्चे को मार पीटकर स्कूल ले जाते हैं, वह रोता चला जाता है पर उसके अन्दर के प्रभु की आवाज तो देखो, क्या वह स्कूल जा रहा है? नहीं जा रहा है। जाता हुआ भी नहीं जा रहा है। खाता हुआ भी नहीं खा रहा है। या तो बड़ी रंज हो या बड़ा आनन्द हो तो ऐसी स्थिति बनती है कि जाता हुआ भी नहीं जा रहा है। खाता हुआ भी नहीं खा रहा है। ज्ञानी पुरुष को सबसे बड़ा रंज है इस विभाव के कब्जे में पड़ जाने का। उस रंज के मारे बेचारा खाता हुआ भी नहीं खा रहा है। इस ज्ञानी जीव को सबसे बड़ा आनन्द है ज्ञानस्वरूप के अनुभव से उत्पन्न हुआ विलक्षण आनन्द। उस आनन्द रस को जिसने भोग लिया है वह ज्ञानी इस नरजीवन के लिए खा रहा है तो भी खाता हुआ नहीं खा रहा है। भोगने वाले तो अज्ञानी ही होते हैं।

ज्ञानी की गुप्त अन्तःअनाकुलता—एक ज्ञानी अन्तरात्मा श्रावक बच्चे को गोद में लेकर खिला रहा है किंतु दृष्टि है इस ओर कि यह परिवार का बंधन जो विकल्पों का आश्रयभूत है, इससे हटकर कब मेरी ऐसी स्वतंत्र वृत्ति हो कि मैं निर्जन विपिन में केवल एक आत्मराम को देखकर अपने आपमें आनन्दमग्न होऊँ। तो वह जंगल में तो नहीं है, पर जो आनन्द जंगल में लूटा वहीं आनन्द गोदी में बैठे हुए बच्चे को खिलाते हुए मैं भी है। उससे बढ़िया तो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि हैं कि खिलाने का आनन्द तो लूट रहे हैं। ज्ञानी की दशा तो ऐसी है कि दृष्टि लगी है एकान्त आत्मतत्त्व की। जो सामने है उसमें मन लगता नहीं। तो क्या वह अज्ञानी से बुरा हैं? अरे अज्ञानी तो अज्ञान की लीलाएँ करके निरन्तर दुःखी हो रहा है। वह तो स्वरूप दृष्टि बनाकर अन्तर में अनाकुल तो बना हुआ है। भोगने वाला अज्ञानी पुरुष ही होता है ऐसा यहां नियम कहा जा रहा है। उस नियम को अब आचार्य कुन्दकुन्ददेव एक गाथा द्वारा प्रकट करते हैं।

ण मुयदि पयडिमभव्वो सुट्ठु वि अज्झाइदूण सत्थाणि।

गुडदुद्धंपि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा होंति॥३१७॥

अभव्य की प्रकृति—अभव्य जीव शास्त्रों का अध्ययन करके भी प्रकृति को नहीं छोड़ता है। जैसे सांप दूध और गुड पीकर भी निर्विष नहीं होता है, सर्प विषभाव को न तो खुद छोड़ता है और जो विषभाव को छोड़ने में समर्थ जो दूध शक्कर है वह भी पिला दें, उसे भी नहीं छोड़ता। इस ही प्रकार अभव्य जीव प्रकृति के स्वभाव को स्वयं भी नहीं छोड़ता और प्रकृति स्वभाव को छोड़ने में समर्थ जो द्रव्य श्रुत का ज्ञान है उस ज्ञान से भी प्रकृति के स्वभाव को नहीं छोड़ता। क्योंकि अभव्य जीव के भाव श्रुतज्ञानरूप शुद्ध ज्ञान का अभाव है इस कारण वह अज्ञानी ही रहता है, जैसे नीतिकार लोग कहते हैं कि सिंह यदि उपवास करले तो वह तो उपवास मांस का ही करेगा। सो प्रायः सिंह यदि ज्ञान से जगता है तो चूँकि वह बड़ा जीव है ना, उसमें जब बल प्रकट होता है तो ऐसा आत्मबल प्रकट होता है कि समाधिमरण ही कर डालता है। प्रकृति है रागद्वेषमोह का परिणमन। इन रागादिक भावों को अभव्य स्वयं नहीं छोड़ता और रागपरिहार करने में समर्थ श्रुताध्ययन है उस श्रुत का अध्ययन भी करें तो भी नहीं छोड़ता। जैसे देखा होगा कि जो विवादी लोग हैं, ऊधमी लोग हैं वे ज्यादा पढ़ जायें तो भी उनके विवाद और बढ़ जाता है।

अभव्य की चरम ज्ञानयोग्यता व प्रकृतिस्वभाव का अपरिहार—भैया ! अभव्य जीव के क्या कम ज्ञान है ? ग्यारह अंग और ९ पूर्वों का धारी होता है। धरसेनाचार्य से तो ज्यादा है ही। ग्यारह गुने से लेकर १४, १५, गुने तक भी वह अभव्य जीव ज्ञान करले तो भी अन्तर में

आत्मज्ञान , आत्मानुभव, आत्मीय आनन्द की झलक नहीं उत्पन्न होती, कितनी विचित्र बात है ? एक मूँग होती है जो कि कम चुरती है, कंकड़ पत्थर की तरह रहती है। सो सब दाल चुर जायें, पर पतेली में वह मूँग की दाल कंकड़ पत्थर की तरह ज्यों की ज्यों बनी रहती है।

कुछ वर्तना के नामों के अर्थ—बतावो पतेली जानते हो क्यों कहते हैं पतेली कहते हैं उसे जिसमें वेग के साथ साग भाजी एकदम पतित कर दें। घी डालों, जीरा डालों, जिसमें साग भाजी पतित की जाय उसका नाम पतेली है। भगोना जानते हो किसे कहते हैं ? भगोना, जो नीचे से लम्बा चौड़ा होता है, जमीन पर बैठा रहता है, उसे ज्यादा हिलावो तब हिलेगा, वह इधर उधर नहीं भागता। लोटा जानते हो किसे कहते हैं? जिसे धरती पर धरो तो लोटता रहे उसका नाम लोटा है। जिसे कहते हैं बेपेदी। गड़ई और चीज होती है। धर दो तो गड़ जाय, उसके नीचे तरी लगी रहती है। अब तो जिस चाहे को चाहे कह बैठते हैं। लोटे को गड़ई कह दो, गड़ई को लोटा कह दो, पर शब्द शास्त्र के जानने वाले गड़ई को गड़ई ही कहेंगे।

अभव्य के न सीझने में कुरूद्र मंग का दृष्टांत—जिस पतेली में मूँग की दाल कंकड़ सी बनती रहती है, उसमें क्या कमी हुयी ? वही खौलता हुआ पानी, वही आग, वही सारी चीजें, पर उपादान की ऐसी विचित्रता है कि वह मूँग नहीं सीझती। अभव्य जीव भी कितना ही शास्त्रों का अध्ययन कर लेता हैं तो भी अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभव करने का आनन्द नहीं लूट पाता। प्रकृति के स्वभाव में स्थित रहता हैं।

स्वरूप के अज्ञान की विपदा—भैया ! जगत् में विपदा ही सिर्फ एक है, दूसरी कोई विपदा नहीं है। अन्य तो पुण्य वालों के नखरे हैं। विपत्ति कोई नहीं है। जिस चाहे को विपत्ति समझ लिया। न ज्यादा धन मिला तो लखपति न होंगे, इसमें विपत्ति क्या ? अरे यहां कोई विपत्ति है क्या ? जिसकी जो बात इष्ट है उसकी प्राप्ति न हो सकने पर विपत्ति मान लिया। ये नखरे हैं क्योंकि उदय चल रहा है ना, तो असल में बात यह है कि हम अपने सही स्वरूप का भान नहीं कर पाते हैं। जो अपने स्वरूप का भान कर लेते हैं उन्हें फिर क्लेश नहीं रहता है। एक चक्रवर्ती जिसके ६ खण्ड की विभूति है उसे कितना पुण्यवान् कहते हैं ? लोक में उसे बड़ा पुण्यवान् माना जाता है। और ६ खण्ड की विभूति त्याग करके निर्गन्थ दीक्षा ले लो अब क्या हो गया पुण्यहीन ? नहीं। उससे भी अधिक पुण्यवान है। तो धन सम्पदा से पुण्यवान नहीं होते किंतु भीतर के संतोष से, ज्ञान के प्रकाश से पुण्यवान बोलिए। किसको दिखाना है, कौन साथी बनेगा ? सब

मायामय हैं, पातकी हैं, ये संसार में रूलने वाले हैं, किसमें प्रशंसा लूटना चाहते हैं? सब प्रशंसा किसी की नहीं कर सकते हैं।

सबके तुष्ट किये जाने के उपाय का अभाव—एक सेठ जी थे। उनके चार लड़के थे। जब न्यारे हुए तो ५ लाख की जायदाद थी, एक एक लड़के को एक-एक लाख दे दी ईमानदारी से और एक लाख खुद को रख लिया। अब पिता जी बोले कि बेटा बटवारे में लोग बरबाद तक हो जाते हैं, कोई हठ लग जाय तो एक हाथ जगह पहीलग जाये। जो कुछ मिला है वही सब उस एक हाथ जमीन के पीछे बरबाद कर दें। तुम लोग तो बड़े प्रेम से बड़ी शांति से न्यारे हो गए हो सो एक काम करो खुशी में। बिरादरी वालों को पंगत करो। तो सबसे पहिले छोटे लड़के ने पंगत की। बिरादरी वाले खाने आ गए अपनी-अपनी गडई में पानी भरकर। यह पुरानी प्रथा कह रहे हैं, अब कुल्हड़ चलते हैं। सब जीमने लगे। उस छोटे लड़के ने ५-७ मिठाई बनवायी थी। सो बिरादरी के लोग जीमते जायें और कहते जायें कि देखो—छोटा लड़का बाप को ज्यादा प्यारा होता है क्योंकि वह बुढापे में होता है, सो सारा धन बाप ने इसे दे दिया है, इसी से खुशी में आकर ५, ७ मिठाई बनवाई है। १०, ५ दिन बाद में छोटे से जो बड़ा था उसने पंगत की। जो बिरादरी के लोग जीमने आ गये। उसने तीन मिठाई बनवायी थी सो वे खाते जायें और कहते जायें कि देखो यह कितना चालाक है—छोटे ने तो ५-७ मिठाई बनवायी थी, इसने तीन ही बनवाई। यह बोलने में भी बड़ा चतुर है। इसने चाहे कितना ही धन रख लिया हो। १० दिन बाद उससे बड़े तीसरे ने पंगत की। उसने मिठाई ही नहीं बनवायी, सीधी पूड़ी और साग रख दिया, बिरादरी के लोग जब जीमने बैठे तो कहें कि यह तो बड़ा ही चतुर निकला। इसने तो कसम खाने को भी मिठाई नहीं रखी और है बड़ा, सो चाहे कितना ही धन रख लिया हो। अब आयी सबसे बड़े की बारी, सो उस बड़े लड़के ने चने की दाल और रोटी बनवायी। बिरादरी वाले जीमते जायें और कहते जायें कि सबसे चुस्त चालाक तो यह निकला। इसने तो पकवान का नाम ही नहीं रखा और सबसे बड़ा है और बड़ा लड़का बाप बरोबर। सो चाहे सारा ही धन समेटकर रख लिया हो। तो बतलावो कौनसा काम आप करें कि जिसमें सब खुश हो जायें। भला-भला भी करते हैं पर सभी खुश नहीं हो सकते है। आखिर जिमाया ही तो है, किसी से कुछ छिनाया तो नहीं, तिस पर भी वे दसों बातें कहते हैं।

सो भैया ! इस दुनिया में किसको खुश करने के लिए विकल्प बढ़ाये जायें और अपने इस ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा पर अन्याय किया जाय ? विपत्ति है तो एक यही ही है कि हम अपने सहज स्वरूप का बोध नहीं कर पाते हैं। तो यह अभव्य जीव भली प्रकार अर्थात् खूब

उपदेश दे सके, कंठस्थ हो, ऐसा शास्त्रों का अध्ययन करके भी प्रकृति के स्वभाव को नहीं छोड़ते। इस कारण यह बिल्कुल निश्चित समझो कि अज्ञानी जीव प्रकृति के स्वभाव में स्थित होने से वह वेदक ही है। गांव और नगर में देख लो, जो जितना अज्ञानी है, संकट आने पर, इष्ट वियोग होने पर वह उतना ही रुदन उतना ही दुःख करता है, ज्ञानी जीव विपत्ति आने पर भी ज्ञाता दृष्टा रहता है। यह हो गया ऐसा।

ज्ञानी की वृत्ति-पद्धति—भैया ! अपना भला चाहते हो तो यह कमाई करो, जो गुप्त ही गुप्त स्वाधीनता से बिना श्रम के अपने आपमें किया जा सकता है। कोई भी करले। धनी हो, निर्धन हो, पशु हो, पक्षी हो, इस कमाई को कर ले कि रागादिक भावों से पृथक् ज्ञानमात्र होने में इस मुझ ज्ञानमात्र आत्मा का एक परमाणुमात्र भी कुछ नहीं है। ऐसी प्रतीतिवाला ज्ञानी संत प्रकृति के स्वभाव से हटा हुआ रहता है। जैसे कोई दुष्टों के फंद में पड़ जाय और जानकारी हो जाय कि यह फुसला कर बहलाकर संकटों में डालने वाला है तो वह उससे मधुर बोलकर भी उससे हटा हुआ रहता है, और मौका तकता है कि कोई अवसर मिले कि मैं इस संग से पिण्ड छुड़ाऊ। इसी तरह इन इन्द्रियों का बहकावा, फुसलावा हो रहा है। अज्ञानी, अविवेकी स्खलित हो होकर विषयों की ओर झुकता है, ऐसा कुसंग मिला है इस आत्मप्रभु को। तो यह भी ज्ञानी है, विवेकी है। सो जानता है कि फँस तो गए ही हैं हम। जीवन से जीना भी पड़ेगा, शरीर को रखना ही पड़ेगा। पर उस विषय वासना कमाई, भोग इच्छा से हटता ही रहता है। उसके अन्दर में यत्न बना रहता है। जब कि अज्ञानी अजीव इन्द्रियों के विषयों में टूट कर गिरता है। मुझ सा भाग्यवान् कौन है जगत में जो अन्य सब जीवों को तुच्छ मानता है।

क्लेशों की स्वापराधजन्यता—अज्ञानी जीव प्रकृति के स्वभाव में स्थित है। सो वह आकुलताओं को भोगने वाला होता है। यही सबसे बड़ा अपराध है कि हम अपने स्वरूप को नहीं जान पाते हैं। जो भी दुःखी हो रहे हैं वे अपने अपराध से दुःखी हो रहे हैं, दूसरे के अपराध से दूसरा कभी दुःखी हो ही नहीं सकता। व्यर्थ के बैर अपराध की दृष्टि रखना इससे खुद का अकल्याण है। कोई जगत में मेरा विरोधी नहीं है। दूसरे के अपराध से मुझे कभी क्लेश नहीं होता है। हम दुःखी खुद के अपराध से होते हैं। दूँदो उस अपराध को। खुद का व्यावहारिक कार्यों में अपराध मिलेगा, और न मिलेगा व्यावहारिक कार्यों में अपराध तो मानसिक विकल्पों में अपराध मिलेगा और न भी मिले मानसिक विकल्पों का अपराध तो जो गुजर रही है हम पर उसमें उपयोग जुड़ा है यह ही एक अपराध है। स्वयं के अपराध से ही जीव शंकित रहता है,

आकुलित रहता है और विपत्तियों को बढ़ाता है। जो अपराध नहीं करता अर्थात् आत्मा की आराधना में लगता है वह आत्मा को ज्ञानमात्र मानता है।

अपराध और आराधना—अपराध का विरुद्ध शब्द आराधना। जैसे मूर्खता और विद्वत्ता विरुद्ध शब्द हैं ना, शत्रुता, मित्रता, जैसे ये दो विरुद्ध शब्द हैं, इसी प्रकार ये भी दो विरुद्ध शब्द हैं—अपराध और आराधना। आराधना नहीं है वही अपराध है और आराधना चल रही है तो अपराध नहीं है। अथवा मिलता जुलता शब्द ले लो अपराध और आराध। अप और आ ये दो उपसर्ग हुए ना, अप का अर्थ है दूर कर दिया और राध मायने राध को, जो राधा को दूर कर देता है सो अपराध है। भगवान पार्श्वनाथ के मायने—जिसका नाथ पास में ही हो सो है पार्श्वनाथ। पार्श्व मायने पास।

आराधना—राधेश्याम—राधा से समन्वित जो श्याम है सो है राधेश्याम, श्यामांग पार्श्वनाथ। अथवा जो भी ज्ञानी आत्मसिद्धि से समन्वित है वह है राधेश्याम, यही निरपराध है। अपराधी वह है जिसकी राधा खो गयी। अप मायने बाहर हो गयी है राधा याने सिद्धि। अपनी-अपनी राधा ढूँढ लो और अपराध मिटा लो। राधा मायने सिद्धि, राधा का अर्थ है सिद्धि। 'आ समन्तात् राधा यत्र सा आराधा' सारे प्रदेश में जहां राधा बस गयी, आत्मसिद्धि हो गयी उसका नाम है आराधना। यह सारा जगत आत्मदृष्टि से रहित होकर अपराधी बना हुआ है और जगत में रूलता है।

विपत्ति में स्वरक्षा का यत्न—जब कोई विपत्ति आती है तो अपने-अपने बचाव की पड़ती है। अभी आप सब बैठे हैं, सभा है और एक तरफ से चूहा ही निकल जाय तो ऐसा भागेंगे कि चाहे चूहा ही मर जाय, कुछ नहीं देखेंगे। चाहे पास में छोटे बच्चे भी लेटे हों, उनके भी पेट में लात धर कर निकल भागेंगे। ऐसा प्राण छोड़कर भागे और निकला क्या ? एक बेचारा चूहा। जरा सी गड़बड़ हो जाय तिस पर भी अपनी-अपनी पड़ती है, अपना-अपना बचाव करते हैं और बड़ा उपद्रव आ जाय तो वहाँ सब जानते हैं अपना ही बचाव करेंगे। तो इतनी बड़ी विपत्ति हम आप पर पड़ी है कि यह राग रूपी आग निरन्तर अपने को जला रही है। किंतु अपने बचाव की मन में नहीं आती।

अज्ञानियों का भोगार्थ धर्म—भैया ! धर्मपालन तो दूर रहो, धर्म करेंगे तो उसे राग और सुख बढ़ाने की विधि बनायेंगे धर्म। यह तो भोग भोगने की विधि है कि जरा थोड़ी पूजा कर लें, लोगों को जरा धर्म का अपना जौहर दिखा दें तो ये सब ठाठबाट से रहने के साधन हैं। लोगों में महत्ता भी होगी और धन भी बढ़ जायेगा, सुख भी मिल जायेगा और कभी थोड़ी कमी भी हो

जायेगी तो महावीर जी को चार छत्र और चढा देंगे, कैसे कमी हो जायेगी, बड़ा मन में साहस बना है। यह क्या बात है ? ये भोग-भोगने की विधियाँ बना ली है, धर्म नहीं है।

धर्मपान का प्रारम्भ—धर्म का प्रारम्भ यहीं से है कि ऐसा ज्ञान जगे कि प्रकृति के स्वभाव में यह न टिक सके। उपद्रव आ रहे हैं पर उनसे हटा हुआ रहे। जिसे अपनी सावधानी है वह निराकुल रहता है। सावधान किसे कहते हैं? जो अवधान से सहित हो और अवधान किसे कहते हैं? अपने आपका अपने आप में सर्व ओर से धरण हो जाना इसका नाम है अवधान । जरा शब्दों के भी पीछे पड़ते जायें तो ये सब हमें शिक्षा देंगे। तुम्हें यों करना है।

अविवेकी मनुष्य उल्टा पेड़—भैया ! यदि कोई मनुष्य न विवेक बनाए तो वह आदमी क्या है? उल्टा पेड़ है। इन पेड़ों की जड़ें तो नीचे होती हैं और शाखाएँ ऊपर होती हैं दो शाखाएँ फैल गयीं, चार शाखाएँ फैल गयीं, मगर इस मनुष्यरूपी पेड़ की जड़ मस्तक तो ऊपर है और ये टाँगे आदि शाखायें नीचे को लटक गयीं। पेड़ जड़ से आहार ग्रहण करता है, यह पुरुष मस्तक मुख जड़ से आहार ग्रहण करता है। ये मनुष्य जिनके विवेक न जगा, वे चलते फिरते पेड़ हैं। तो यह श्रद्धान करना चाहिए कि हम रागद्वेष से न्यारे मात्र ज्ञानमात्र हैं, ऐसी सावधानी हम आपकी बनी रहे।

ज्ञानी के अभोक्तृत्व का नियम—अज्ञानी पुरुष को वीतराग स्वसम्वेदन ज्ञान नहीं होता है, सो कर्मों का उदय होने पर मिथ्यात्व रागादिक भावों में तन्मय होता है, इस कारण ज्ञानी कर्मों के फल का नियम से वेदक होता है। ज्ञानी जीव ऐसा अनुभव करता है कि मैं अनन्त ज्ञानादिकरूप हूँ, सर्व से विविक्त अपने स्वरूप मात्र हूँ। यह ऐसा है और सतत परिणमता रहता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई विसम्वाद इस मुझ आत्मा का मेरे स्वभाव के कारण नहीं है। मैं स्वभाव मात्र हूँ, ऐसे निज की प्रतीति के बल से सहज स्वभावमय निज आत्मतत्त्व को लक्ष्य में लेकर शुद्ध आत्मा को भली प्रकार जानता हुआ परम समता रस रूप अपना अनुभवन किया करता है। अतः ज्ञानी कर्मफल का भोक्ता नहीं है, इस नियम को अब इस गाथा में कह रहे हैं।
णित्वेयसमावण्णो णाणी कम्मप्फलं वियाणेदि।

महुरं कडुयं बहुविहमवेयओ तेण सो होई॥३१८॥

विरक्त पुरुष के कर्मफलभोक्तृत्व का अभाव—वैराग्य को प्राप्त हुआ ज्ञानी जीव कर्मों के फल को जानता तो है कि यह मधुर है, यह कड़वा है, परन्तु उसका अनुभवने वाला नहीं होता। जैसे किसी पुरुष को दूसरे के द्वारा दूसरे को गालियाँ दी जायें तो पर का अपमान किए जाने पर

हँसी आ जाती है, इसी तरह कोई पुरुष ऐसा भी है कि जिसको गालियां दी जाने पर अपमान किया जाने पर स्वयं को हँसी आ जाती है। कोई गालियां अधिक महसूस करता है, कोई कम महसूस करता है, कोई परवाह ही नहीं करता है। जैसे ज्ञान का विकास है वैसे ही वैसे वह पर के परिणामन का ज्ञाता रहता है। गजकुमार मुनिराज पर गजकुमार के स्वसुर ने गुस्से में आकर कि तुझे यदि मुनि बनना था तो कल ही सुबह बन जाता। एक दिन ही शादी करके फिर तूने घर छोड़ा, तू इतना निर्दय है—ऐसा भाव करके ससुर ने गजकुमार के सिर पर मिट्टी का बाँध बांधकर कोयला भरकर आग लगा दी, सिर जल रहा है, किंतु धन्य है वह ज्ञान जिस आत्मज्ञान के जगने पर यह जलता हुआ सिर ऐसा मालूम देता है कि जैसे कहीं अन्यत्र मुर्दे का सिर जलाया जा रहा है। यह आत्मज्ञान की कितनी बड़ी चरम सीमा है।

अवेदकता—जब आशय कुछ और है तब शरीर की पीड़ा भी अनुभव में नहीं आती। यहीं के उदाहरण देख लो—क्रांतिकारी भगतसिंह के गुट में जो लोग गिरफ्तार हुए थे उनमें किसी की अंगुलि मोमबत्ती जलाकर उस पर धरी गयी, और वह अंगुलि जल रही है, उसमें से खून और मांस भी टपक रहा है और सरकारी अधिकारी कह रहे हैं कि तुम अपने गुट का भेद बतावो, इस घटना का रहस्य बतावो, यह काम किसने और कैसे जोड़ा है? किंतु अंगुलि जल रही है, मांस का लोथड़ा गिर रहा है और फिर भी कुछ डर नहीं। भोग रहे हैं। तो जब लौकिक आशयों में किसी प्रकार दृढता होती है तो वहां शरीर पीड़ा नहीं अनुभवी जाती। तब जो ज्ञानी संत पुरुष सर्व से भिन्न ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व को लक्ष्य लेते हैं और प्रकट हुए आनन्द की धुनि में सदा मग्न रहते हैं। आत्महित ही जिनका एक लक्ष्य है उन्हें कहां से क्लेश हो? वैराग्य को प्राप्त हुआ ज्ञानी पुरुष कर्मफल का परन्तु भोगने वाला होकर भी भोक्ता नहीं होता है।

सगाई—अब जरा अज्ञानी जीवों की प्रवृत्ति देखो। बड़े बालकों को या बड़ी कन्यावों को देखो—जब सम्बंध चर्चा होने लगती है, अमुक जगह सम्बंध ठीक है, कर दें सगाई। सगाई जानते हो क्या होती है? दूसरे को स्व मानने लगना इस प्रकार की मान्यता का नाम सगाई है, स्व शब्द में 'स्वार्थे कः' प्रत्यय लगाकर स्वक बना और हिन्दी में भाववाचक आई प्रत्यय लगा दिया जिससे बन गया स्वकाई तथा स्वकाई से बिगड़कर बना सगाई। दूसरे को अपना मान लेना ऐसा जहां निश्चय कर लिया जाय उस का नाम है सगाई। अभी बाहर-बाहर हैं, कोई निश्चय भी नहीं, कहो सगाई टूट जाय, पर ऐसा मान लेते हैं कि सम्बंधी के कोई पीड़ा हो तो यह दूसरा भी दुःखी होने लगता है। अनागत चीज की भी यह अज्ञानी जीव चिंता करता है। किसी का मकान आपने रहन रख लिया। अब जान रहे हैं कि कई वर्ष हो गए। इतना ब्याज हो गया है। इसमें गुंजाइश

नहीं है। अब यह न छुड़ा पायेगा, बस चाहे वह अपना न बन पाये, न रजिस्ट्री हो सके, पर यह मानता है कि यह मकान मेरा है। तो इस प्रकार के अनागत पदार्थों से भी यह सगाई कर लेता है। केवल लड़का लड़की के सम्बंध मानने का नाम सगाई नहीं है बल्कि जिस चीज को अपनी मान लो उसी की सगाई हो गई। कोई चीज अपनी बन सके या न बन सके, मगर सगाई चेतन अचेतन से कर डालते हैं अज्ञानी जीव।

ज्ञानी व अज्ञानी के भाव—ज्ञानी जीव की तो इस शरीर तक से भी सगाई नहीं है और सगाई की बात तो दूर रहो, अपने में उठने वाले राग-द्वेषादिक भाव तक से भी सगाई नहीं है, किंतु अज्ञानी जीव कूड़ा और कचरा से भी सगाई किए हुए हैं। कोई घर का आँगन नीचा है ना, तो उसे पूर कर बड़ा करते हैं। यदि पड़ोस में कोई घर फूट गया तो बड़ा कीचड़ पड़ा था, उसे १० रु में खरीद लिया, तो उसने उस कूड़े तक से सगाई कर ली। कोई आदमी उस जगह से एक ईट तक भी नहीं ले जा सकता है। इस अज्ञानी जीव ने चेतन अचेतन पदार्थों से भी सगाई कर रखी है।

अन्तर्द्रष्टा के भाव—ज्ञानी जीव जिसे शुद्ध आत्मा का ज्ञान है अर्थात् ज्ञानमात्र, ज्ञानस्वभाव मात्र जिसमें किसी भी प्रकार का भेद नहीं है, जो है सो ही है, परिपूर्ण है। उस अखण्ड एक को बताने के लिए योग्य व्यवहार भेद किया जाता है, पर भेद व्यवहार गुण आदि कथन करके भी उस आत्मतत्त्व को बताया जाय तो कुछ लोग तो संकोच करेंगे और कुछ लोग झुंझलाहट करेंगे। कौन लोग झुंझलाहट करेंगे ? जिन्हें इस अखण्ड आत्मतत्त्व का सही दर्शन हो रहा है। अरे क्यों रंग में भंग डाल रहे हो? यह चैतन्य तो अखण्ड चिन्मुद्रांकित है। यह तो यही है। इसमें ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र्य है, यह कथनी भी खेद पहुंचाने वाली बन रही है। जैसे कोई संस्कृत का ज्ञानी हो और उसके आगे कोई संस्कृत स्तवन कर रहा हो जो पढ़ा लिखा न हो। अब हम किसी छंद का उदाहरण नहीं दे सकते, क्यों कि बनाकर भी गलती करके बोलें तो भी मुश्किल सा हो रहा है। ऐसे गलत छंदों को अज्ञानकार बोला करते हैं और संस्कृत के जानकर को चोट आती रहती है। दुःख नहीं दिया जा रहा है पर ऐसा ही क्लेश होता है।

त्रुटि की बाधा—एक बार एक राजा पंडित पर असंतुष्ट हो गया तो उसे जो देता था रसद वह सब बंद कर दिया। अब बेचारा पंडित क्यों करें? सो जंगल में से लकड़ी बीन लाए और वह बोझ सिर पर रखकर बेचने लगा। तो एक दिन वह पंडित सिर पर बोझ लादे हुए आ रहा था और यहां से राजा जा रहा था। तो राजा कहता है कि -‘काष्ठभार सहस्राणि तव स्कंधं न

बाधति।' इसमें वह राजा छोटी सी गलती बोल गया है, सो भी बता देंगे। अर्थ उसका यह है कि यह इतना बड़ा भारी काठ का बोझ है पंडित तुम्हारे कंधे को बाधा नहीं देता है क्या ? काठ का बोझ कंधे पर लादे हुए वह जा रहा था। यह तो है इस पंक्ति का अर्थ और गलती इसमें क्या है कि बाधते कहना चाहिए, सो बाधति कह दिया है। गलती है इतनी त में ए बोलना चाहिए, सो त में इ बोल दिया। 'काष्ठभार-सहस्राणि तव स्कंधं न बाधति।' तब विद्वान उत्तर देता है कि - 'भारं न बाधते राजन् यथा बाधति बाधते।' हे राजन् यह भार मुझे बाधा नहीं दे रहा है मगर यह बाधति शब्द बड़ी बाधा कर रहा है, बेचैनी कर रहा है। तो संस्कृत का जानकार इतनी सी गलती पाकर कितना दुःखी होता है? हालांकि उसका कुछ बिगाड़ नहीं किया, 'लेकिन ऐसी ही प्राकृतिकता होती है।

अभेद में भेदकथन की असह्यता—भैया ! यों ही समझिए कि जो अखण्ड चैतन्यस्वभाव की महिमा में मग्न होते हैं और जिसने परम आल्हाद प्राप्त किया है उस पुरुष के लिए गुणभेद की कथनी भी चोट पहुंचा देती है। उच्च शुद्ध आत्मतत्त्व का ज्ञान जिसे लोक में बोलते हैं टन्नाकर रह जाना, यहां वहां कहीं अगल बगल ध्यान और झांक न होना, ऐसे स्वसम्वेदन ज्ञान द्वारा ही यह शुद्ध आत्मतत्त्व ज्ञात होता है। ऐसा शुद्ध आत्मा जिसके ज्ञात हुआ है वह परपदार्थों से अत्यंत विविक्त है, अलग हटा हुआ रहता है। जैसे जल से भिन्न कमल है। जल में ही कमल पैदा है फिर भी जल से अलग ऊपर खड़ा है। इस ही आत्मभूमि में राग भाव पैदा होता है। फिर भी यह उपयोग कमल इस रागभाव से दूर खड़ा है।

निकटस्थ की महत्ता से महंत का परिचय—अथवा जिस कमल की उत्कृष्टता की इतनी बड़ी महिमा है उस कमल के पत्ते की भी बात देखो—वह पत्ता पानी में पड़ा हुआ है फिर भी पानी से लिप्त नहीं होता। कमल के पत्ते ऐसे साफ चिकने होते हैं कि उनमें पानी के बूंद का स्पर्श नहीं है, पास में है वह। जैसे पारा आपके कागज में लुढ़कता रहेगा पर कागज को छेदेगा नहीं, भेदेगा नहीं, पकड़ेगा नहीं। इसी तरह कमल के पत्तों को देख लो। जिसके फूल में इतनी बड़ी करामात है उसके पत्ते में भी यह करामात है। बड़े आदमी के घर के लोगों से भी बड़े आदमियों की परख हो जाती है और जिस घर के लड़के गाली देने वाले घिनावने, क्रोधी होते हैं उसके लिए यह अनुमान कर लो कि कुल का प्रमुख भी योग्य नहीं है।

विद्वानों का परिचय—पुराने समय में एक पुरुष मंडनमिश्र से शास्त्रार्थ करने चला। पहिले शास्त्रार्थ की बड़ी पद्धति थी। मंडनमिश्र के नगर में वह पुरुष पहुंचता है, आज में मंडन मिश्र से

शास्त्रार्थ करूंगा। सो कुवे पर महिलाएँ पानी भर रही थी। उन महिलाओं से पूछा उस विवादार्थी ने कि मंडन मिश्र का घर कौन सा है? तो एक स्त्री जवाब देती है--

स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीरांगना यत्र गिरो तिरंति।

शिष्योपशिष्यैरूपगीयमानमवेहि तन्मंडनमिश्रधाम।।

वह स्त्री जवाब देती है कि जिस के द्वारे पर बैठे हुए तोते यह कह रहे हो कि स्वतः प्रमाणम् परतः प्रमाणम् माने दार्शनिक चर्चा कर रही हो तोती याने तोते की स्त्री को। पुरुष से स्त्री को लोग जरा कम बुद्धिमान् समझते हैं। तो वीरांगनाएँ जहां ऐसी वाणी बोल रही हों कि प्रमाण स्वतः होता है या परतः होता है और जहां शिष्य और उपशिष्य बहुत से मंडनमिश्र का अभिवादन कर रहे हों, समझ लो कि वही मंडनमिश्र का घर है। इस ही प्रकार की पहिले बड़े पुरुषों के घर जानने की पहिचान हुआ करती थी। अब तो कोई गुण रहा नहीं पहिचान का, सो सीधा नाम दीवाल पर खुदवा देते हैं। यह फलाने चौधरी का मकान है। अब क्या करें ? कोई गुण ही नहीं है और गुणों से कोई पूछ नहीं सकता। तो चलो अपना नाम खुदवा कर जाहिर कर दें, यह फलाने का नाम है।

बड़ों के प्रभाव का परिकर से परिचय—भैया ! बड़े पुरुषों का प्रभाव उनके परिकर से भी जान लिया जाता है। तो यहां बड़ा पुरुष कौन बैठा है ? शुद्ध आत्मतत्त्व का उपयोग। इस उपयोग की पहिचान ये ऊपरी हैं, व्रत से रहना, तप से रहना, नियम से रहना, दया करना—ये सब उसके ऊपरी वातावरण हैं। जिससे पहिचान होती है कि यहां कोई बड़ा महान् आत्मा बसता है। तो यह ज्ञानी जीव शुद्ध आत्मतत्त्व के ज्ञान होने के कारण और परपदार्थों से अत्यंत विविक्त रहने के कारण प्रकृति के स्वभाव को स्वयं ही छोड़ देता है। साँप तो विष को न स्वयं छोड़ता है और न दूध खाण्ड पिलाने से भी छोड़ता है। अज्ञानी प्रकृति के स्वभाव को न स्वयं छोड़ता है और न शास्त्रों के सिखे सीखाए भी छोड़ता है किंतु यह ज्ञानी अपने ज्ञान की सहज कला से स्वयमेव ही प्रकृतिस्वभाव को छोड़ देता है और इस कारण चाहे कर्मफल मधुर हों, चाहे कर्मफल कटुक हों, ज्ञातामात्र रहने से उनको केवल जानता ही है।

ज्ञान की अयोग्यता—भैया ! यथार्थज्ञान हो जाने पर परपदार्थों को अहंरूप से अनुभव करने की ज्ञानी में योग्यता भी नहीं है। यह ज्ञानी पुरुष अयोग्य है। किस बात के लिए अयोग्य है ? परद्रव्य को अपना मानने के लिए अयोग्य है। अयोग्य कहो या नालायक कहो, अर्थ में कुछ

फर्क है क्या ? वह उर्दू का शब्द है, यह संस्कृत का शब्द है। अभी किसी को नालायक कह दो तो वह लड़ने भिड़ने लगता है। अरे बेचारे ने तो प्रशंसा ही की है कि तुम संसार के पंचडों के लायक नहीं हो, तुम नालायक हो, याने संसार के क्लेश, दुःख कष्ट के लायक नहीं हो, इन मोहियों की गोष्ठी के लायक नहीं हो। सीधी बात यह कही है उसने। कोई नालायक कहे तो यही अर्थ लगाना कि यह कह रहा है कि हम इन मोहियों की गोष्ठी के लायक नहीं हैं। हट जावो। यह सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष परद्रव्यों को अहंरूप से अनुभव करने के लिए अयोग्य है। इस कारण यह कर्मफल का भोक्ता नहीं होता। इस कथन से यह निर्णय करना कि ज्ञानी जीव प्रकृति के स्वभाव से विरक्त होता है, इस कारण वह अवेदक ही है।

ज्ञानी की विरक्तता—यह ज्ञानी किन-किन बातों से विरक्त है? संसार से विरक्त-भावरूप संसार, इससे विरक्त है अपने आपकी त्रुटियां अपने आपको नहीं सूझतीं क्योंकि यह जान रहा है कि इन त्रुटियों के कारण इस प्रभु की सर्वज्ञता रूप विभूति ढकी हुई है। यह इसके अनर्थ के लिए ही है। सो संसार से विरक्त रहता है, शरीर से विरक्त रहता है, शरीर को भार जान रहा है, विपत्ति जान रहा है। यदि खूब बड़ी तोंद हो जाय कि अपने आप उठा न जाय, शौच वगैरह भी न जा सके, धोती न पहिन सके, इतनी बड़ी तोंद हो तो तुम्हें बोझा लगे कि न लगे ? लगेगा। और उससे आधी तोंद हो तो भी लगे और तोंद न हो बिल्कुल अच्छा पतला दुबला बढ़िया हो तो भी ज्ञानी को बोझ ही है। अज्ञानी को नहीं होता बोझ। वह ज्ञानी तो जानता है कि इस देह के बंधन के कारण मेरा सब आनन्द समाप्त हो रहा है। ज्ञानी देह से भी विरक्त है और भोगों से भी विरक्त रहता है। भोगने के विकल्पों में पड़ता है और इन्द्रिय विषयों के पौद्-गलिक पदार्थ इनसे भी विरक्त हैं। सो वह वैराग्य को प्राप्त हुआ ज्ञानी उदय में आये हुए शुभ अशुभ कर्मों के फल को व निर्विकार स्व शुद्ध आत्मा को भिन्न रूप से जानता है। इस कर्मफल का ज्ञाता तो है अर्थात् उसकी परिणति को जानता है, ये सब विकल्प भिन्न हैं मुझसे, ऐसा वह जानता है, किंतु कर्मफल को भोगने वाला नहीं होता।

ज्ञानी का अन्तःप्रत्यय—ज्ञानी पुरुष न तो कर्म का कर्ता है और न कर्म का भोक्ता है किंतु केवल वह कर्मों के स्वभाव को जानता है। जो मात्र जान रहा है उसके करना और अनुभवना नहीं है। तब वह आत्मीय शुद्ध स्वभाव में नियत होता हुआ मुक्त ही है। जैसे आप ध्यानपूर्वक यहां न सुन रहे होंगे तो हम कह सकते हैं ना आपसे क्यों जी आप कहां हैं इस समय ? और आपका ध्यान मानो इटावा के मकान में हो तो आप कह भी देंगे कि हम इस

समय इटावा में थे। तो शरीर से और आत्मप्रदेश से बाहर आप नहीं बैठे हो और जहां उपयोग जा रहा हो वहां आपका निवास बोला जायेगा। ज्ञानी पुरुष की आत्मभूमि में कुछ भी बीत रहा हो, कुछ ज्ञान के कारण तो नहीं बीत रहा ना। कुछ भी बीते पर उसका उपयोग जब शुद्ध चैतन्यस्वरूप में लगा हुआ है उस समय वह निर्विकल्प है, संकट से मुक्त है और उपयोग की दृष्टि में तो वह मुक्त ही है। वह उपयोग निकाले, शुद्ध स्वभाव से अगल बगल दृष्टि दे तो फिर संकट हो गए तो ज्ञानी पुरुष का यह प्रत्यय तो निरन्तर रहता है कि मैं चैतन्यमात्र हूँ और चेतना ही मेरी वृत्ति है और फिर जब उपयोग इस चैतन्यस्वभाव के अनुभव में ही नियत होता है तो उस समय तो विकल्प भी नहीं होता है

अचेतक अचेतक का निमित्तनैमित्तिक सम्बंध—भैया ! देखो यह विचित्र खेल कि विकार भाव होता है परस्पर में तो अचेतन अचेतन को हुआ करता है। मानों आत्मा तो एक देश है। उस देश में चेतन गुण भी रहता है, अचेतन गुण भी रहता है, और वे आत्मा के ही देशवासी हैं। जैसे ज्ञान और दर्शन गुण ये तो चेतन हैं, स्वरूप दृष्टि से निहारना सब कुछ और श्रद्धा चारित्र आदि सब गुण ये अचेतन हैं अर्थात् चेतने वाले, जानने देखने वाले ज्ञान दर्शन हैं और बाकी सब गुण चेतने जाने वाले हैं पर चेतने वाले नहीं हैं। आनन्द स्वयं आनन्द का भोग नहीं कर सकता क्योंकि आनन्द में चलने का माद्दा ही नहीं है। आनन्द का भोगने वाला ज्ञान गुण है। इसी तरह श्रद्धा चारित्र गुण यह स्वयं अपने को कुछ नहीं समझता। इसको जानने वाला और व्यवस्था बनाने वाला ज्ञानगुण है। तो स्वरूपतः चूँकि यह चेतन नहीं है इसलिए श्रद्धा गुण और चारित्र गुण अचेतक हुआ और कर्म यह भी अचेतक हुआ। कर्मोदय का निमित्त पाकर विपरीत परिणमता है श्रद्धा और चारित्र और श्रद्धा व चारित्रगुण का निमित्त पाकर विपरीत परिणमता है तो यह कर्म।

ज्ञान की विपरीतता का अभाव—इन कर्मों का ज्ञान के विपरीत परिणमन के लिए कोई सम्बन्ध नहीं है। ज्ञानावरण नामक कर्म तो है पर वह ज्ञान के विपरीत परिणमन का कारण नहीं है। श्रद्धा और चारित्र विपरीत हुए इस कारण ज्ञानावरण में भी यह निमित्त पका आया कि ज्ञान उठ खड़ा नहीं हो सकता, पर ज्ञान विपरीत नहीं परिणमा। कुमति, कुश्रुति, कुअवधि जो भेद किए गए हैं ये ज्ञान के कारण भेद नहीं हैं किंतु मिथ्यात्व कर्म के मिथ्यात्व भाव के सम्बंध से ये भेद हो जाते हैं। मति, श्रुत, अवधि ज्ञान में जो सुपना आया है वह सम्यक्त्व के भाव से आया है। ज्ञान के स्वयं कोई ऐसी खूबी नहीं है कि वह कहीं कु बन जाय और कहीं सु बन जाय। तो मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ, चैतन्यभाव हूँ यही अगर मूलतः विपरीत परिणम जाय तो बड़ा कठिन हो

जायेगा। परिणत होने वाले का यह ज्ञान ठिकाने लगा सकता है और कहीं ज्ञान ही विपरीत परिणमता तो फिर कहां ठिकाना पड़ता ? यह मैं ज्ञानमात्र हूँ, यह मैं न कर्ता हूँ, न भोक्ता हूँ।

भावदृष्टि की शब्दानुसारिता—दूसरी बात यह समझिये कि इस आत्मा को जब ज्ञानी कहकर पुकारा जाय तो ज्ञानी के नाते से ही समूचे आत्मा को देखना। जब सम्यग्दृष्टि कह कर आत्मा को बताया जाय तब सम्यग्दर्शनमय ही आत्मा को देखना। जैसे किसी पुरुष के दो नाम हों। खराब पीरियड तक एक पुराना नाम रहा और कुछ अच्छे सदाचार नियम संयम के समय में दूसरा नाम रख दिया तो कोई पुरुष उसके बारे में यदि खूब आचरणों की बातें कह कर निन्दा भी करे तो भी वह कह सकता है कि यह काम पुराना नाम लेकर इसने किया, जो वर्तमान नाम है उसको लेकर कहेगा कि हमने नहीं किया। जहां यह आप सुनें कि सम्यग्दृष्टि के बंध नहीं होता वहां केवल सम्यग्दर्शनमय ही देखो। वहां यह प्रश्न क्यों उठाते हो—तो सम्यग्दृष्टि के चारित्र मोह पड़ा है, उसके बंध नहीं होता क्या ? होता है। मगर उसको चारित्र मोही कहकर कहें तो यह प्रश्न उठावो। जब सम्यग्दृष्टि कहकर कहते हैं तो सम्यग्दर्शन के नाते जो कुछ होता है वह कहा जा रहा है।

भाव की शब्दानुसारिता पर कुछ दृष्टांत—एक आदमी पुजारी है, पंडित है व्यापारी है। जब व्यापार के आशय में है तब दो चार बातें गड़बड़ भी कर दे जैसा कि प्रायः करते हैं लोग। और पंडिताई के आशय में है तब भला उपदेश भी देता है और कोई कहे कि पंडितजी आपने तो दोपहर में एक दो ग्राहकों से ऐसा बर्ताव किया। अरे वह बर्ताव पंडितजी ने नहीं किया, वह बर्ताव एक दुकानदार ने किया। पंडितजी के नाते से जब उपयोग रहता है तो आप उस आत्मा को केवल पंडितमय ही निरख लो ना और देखो एक आदमी पुजारी भी है और मुनीम भी है और मंदिर के आँगन में आकर कहो पुजारी जी हमारा हिसाब बताना आज। तो उसका बोलना फिट नहीं है। हिसाब बताने की बात कहना हो तो मुनीमजी कहकर पुकारो। पुजारी कहकर न पुकारो। और तुम्हें पूजा ध्यान में मदद लेनी हो तो पुजारी कहकर बुलावो।

समीचीन दृष्टि के बन्धाहेतुत्व—जब ग्रन्थों में यह स्पष्ट लिखा है कि जिस अंश से सम्यग्दर्शन है उस अंश से बंध नहीं है। जिस अंश से राग है उस अंश से बंध है। तो हम जब केवल सम्यग्दर्शन की खूबी को ही देख रहे हैं और सम्यग्दृष्टि कहकर बोल रहे हैं तो निश्चयपूर्वक बोलिए कि सम्यग्दृष्टि के बंध नहीं होता। ये सब स्याद्वाद से सारी बातें उलझ

जाती हैं। वहां यह भी एकांत नहीं है कि जिस आत्मा को सम्यग्दृष्टि कहा है उस आत्मा के बंध कभी कतई होता नहीं, यह भी नहीं है, पर जिसका विवाह हो उसका ही तो गीत गाया जाता है। अब दूल्हे का छोटा भाई लड़ने लगे कि वाह हमारा नाम क्यों नहीं लिया जाता, तो उसका लड़ना ठीक तो नहीं है ना।

व्यवहार में असत्य की भी जबर्दस्ती—फिर भी देखो भैया ! अगर दूसरे साल कोई दस्तूर बाकी रह गया हो विवाह के बाद और न हो बड़ा तो छोटे भाई को ही सामने रखकर लोग नेक दस्तूर कर लेते हैं। जैसा रिवाज हो तुम्हारे । भादों में मौर सिराते हैं और वह दुल्हा कहीं नौकरी पर हो या कहीं पढ़ने में हो तो छोटे ही भाई के ऊपर मौर धरकर तालाब में जाकर उस मौर को सिरवा देते हैं। तो लौकिक पुरुषों ने तो जो चाहे सो किया, व्यवहार है। पर परमार्थतः यदि शब्दों का ठीक-ठीक उपयोग करें तो कहीं भी कोई विवाद न हो।

शब्दों का समुचित प्रयोग—वचन प्रयोग में जितना शब्दों के बोलने में इंग्लिश भाषा में ध्यान रखा जाता है उतना ध्यान हिन्दी भाषा में नहीं रखा जाता है। एक ही शब्द जैसे देखना है, जिसके अनेक शब्द हैं—सी, लुक, परसीव आदि कितने शब्द हैं पर जो चाहे शब्द नहीं बोल उठते। प्रकरण में जो ठीक बैठना चाहिए अर्थ में वही बोलते हैं इंग्लिश में। पर हिन्दी में जो चाहे बोल जाते हैं और वहीं मुहावरा पड़ा हुआ है। तो जब यह कह दिया कि सम्यग्दृष्टि के बंध नहीं होता, तो लोग अटक जाते हैं कि यह क्या कह दिया ? अरे यह इसने कह दिया कि सम्यग्दर्शन के कारण बंध नहीं होता—यह है उसका भाव। तुम्हारी दृष्टि चारों तरफ है सो यह देख रहे हो कि जिस आत्मा में सम्यग्दर्शन पैदा होता है उस आत्मा में कषाय भी तो चल रही है, बंध भी तो चल रहा है, सम्यग्दर्शन भी चल रहा है, पर हम यह नहीं कह रहे हैं। हम तो पतली सी पतली तरैया आँख में लगाकर एक बिन्दु से देख रहे हैं। तो यह ज्ञानी जीव करने और भोगने के भाव से अलग है। केवल जानता हुआ शुद्ध स्वभाव में नियत होकर मुक्त ही है।

बाह्य के अदर्शन में अनाकुलता का एक दृष्टांत—खरगोश के पीछे शिकारी कुत्तों को दौड़ाता है। खरगोश जितने कुत्ते नहीं भाग सकते, उसकी तो ऐसी छलांग जाती है कि ७-८ हाथ दूर तक पैर भी कहीं न रखे। वे खरगोश दूर जाकर एक झाड़ी के पास बैठकर अपने कानों से ही अपनी आँखें बन्द कर लेते हैं। कर्मों का सुयोग भी देखो खरगोश को बड़े कान दिये गए हैं। किसलिए ? इन्हीं संकटों के अवसर के लिए। वे झट झाड़ी में छुप जाते हैं, कानों से अपनी आँखों को ढक लेते हैं। तो कानों से आँखों को बंद कर लिया तो अब कहीं संकट नहीं हैं। पर एक ऐब है कि जरा देर तक तो अपनी आँखों को कानों से ढके रहे, फिर शंका हो गयी कि देखें

तो कहीं से कुत्ते तो नहीं आ रहे हैं। जैसे ही कान हटाये, आँखें खोली, झाड़ी से निकलकर जरा सा देखने लगे तो कुत्तों ने देख लिया, अब वे कुत्ते फिर लपके और खरगोश फिर भागकर झाड़ी में घुस गये और झट कानों से अपनी आँखें बंद करके बैठ जायेंगे, फिर वे कुत्ते दूँढ कर हैरान हो जायेंगे।

बाह्य के अदर्शन में अनाकुलता—इसी तरह यह उपयोग जिसके पीछे विषय कषायों के परिणाम शिकारी दौड़ रहे हैं, यह उपयोग बड़े सातिशय वेग वाला है, सो जाकर ज्ञानज्योति के गुप्त प्रकाशमय स्थल में जाकर छुप जाता है। परन्तु संस्कार इस आत्मा में कायरता का लगा है, सो थोड़ी देर तो रहता है इस ज्ञान झाड़ी में, बाद में फिर देखने लगता है कि देखें तो जरा, हो क्या रहा है बाहर में ? जो विकल्प किया सो विषय कषायों के शिकारी आ धमकते हैं। जरा साहस कर यह उपयोग और बड़े आराम के स्थान में पहुँचे, जरा स्थित बना रहे तो भी संकटों से मुक्त ही है। इस ही बात को कुन्दकुन्दाचार्य देव कह रहे हैं।

णवि कुव्वइ णवि वेयइ, णाणी कम्मइं वहुपयाराइं।

जाणइ पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च।।३१९।।

ज्ञानी जीव की अबाधता—ज्ञानी जीव इन सब बहुत प्रकार के कर्मों का न तो कर्ता है और न भोक्ता है किंतु कर्मफल के बंध को, पुण्य पाप को जानता है। जिसके कोई फोड़ा होता है, पक गया है और वह हिम्मत वाला है तो डॉक्टर उसे चिड़े तो चिड़े वह जाननहार रहता है और जिसे मोह है, उस ही पर दृष्टि है तो उस फोड़े को छुवे भी नहीं, हाथ ही पास में लावे, इतने में ही दर्द सा लगता है क्योंकि शंका भरी है। तो यह ज्ञानी की एक विशेष कला है कि वह जाननहार रहे, वेदना न माने। यह आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूपी है। इसमें वेदना का तो कुछ काम ही नहीं है। दुःख और क्लेश हमें कहां हैं ? किंतु ऐसा अपने को मानता नहीं, बाह्य में दृष्टि होती है तो अपने को दीन दुःखी अनुभव करते हैं पर दुःख किसी को नहीं है।

जीवों की व्यावहारिक स्वतंत्रता—भैया ! इतने लोग यहां बैठे हैं हम आप सब, इनमें से कोई दुःखी नहीं है। आप कहेंगे वाह हमें तो इतना इतना दुःख है। अजी छोड़ो इस ध्यान को, इस अपने आपको देखो तो तुम अकेले ही हो। देखो ये पक्षी कैसे मजे में हैं? यहां बैठ कर किल-किल करते हैं, फिर पंख उठाया भाग गये, क्या इन्हें कष्ट है? यहां तो भिण्ड से चार दिन को भी नहीं भाग सकते। और ये पक्षी दो ही मिनट बैठें और उड़ जायें, और और भी जीवों को देख लो आप कहीं जा रहे हों, किसी भी गांव का कुत्ता हो, वह आपके साथ लग जाता है, न कोई उसे यह विकल्प है कि यह आदमी हमें साथ में न रखे तो हमारा क्या होगा? वह जो जहां जा

रहा है वहीं उसका घर है। कभी कुत्ते लड़ेंगे भी तो एक मिनट सूँघ साँघ कर उसे फिर मित्र बना लेंगे। सभी पक्षियों को पशुओं को जीवों को देखो कि उन पर कुछ बोझा नहीं लदा, पर यह मनुष्य अपने ऊपर बोझा मानता है। अरे यह भी जीव है वे भी जीव हैं।

पर का परस्पर उत्तरदायित्व का अभाव—आप कहेंगे कि वाह बोझा लादे बिना मनुष्य का काम नहीं चल सकता। तो आप किसका काम चला रहे हैं? उनके पुण्य का उदय है सो आप दूसरों की चाकरी कर रहे हैं, निमित्त आप हो रहे हैं, तो ऐसा जानकर अब भार मत समझो। वे अपने आप पर निर्भर हैं, और फिर भार अनुभव करके सिद्धि भी तो कुछ नहीं होती। ये सब पशु पक्षी अपने को भार रहित समझकर जीवन बिताते हैं और हम बहुत से विकल्पों का बोझ लादकर जीवन बिताते हैं। एक मोटा दृष्टांत है तुलना का केवल शिक्षा के लिए कि हम यदि बोझ न मानें किसी का तो भी काम चलता है और मानते हैं तो भी काम चलता है पर बोझ मानने में अपना काम बिगड़ता है, आत्महित की बात नहीं बनती। इससे जानते रहो कि हमें यह करने का विकल्प करना पड़ता है, हम इनका कुछ नहीं करते हैं। ऐसा ही सम्बंध है, सुयोग होता है।

दृष्टि की विशुद्धि की हित में प्राथमिकता—भैया ! किसी भी समय इस अपने को अकिंचन केवल चैतन्यमात्र अनुभव करना बहुत आवश्यक है। नहीं तो रात दिन बोझ से लद-लदकर अपना जीवन बरबाद कर देंगे। कभी यह अवसर ही नहीं पायेंगे कि हम अपनी प्रभुता के दर्शन तो कर लें। जैसी दृष्टि होती है वैसी ही अपनी वृत्ति बनती है और वैसा ही अपने को स्वाद आता है। एक बार बादशाह ने वजीर से दिल्लगी की कि वजीर ! स्वप्न में हम तुम जा रहे थे टहलने तो रास्ते में एक जगह दो गड्ढे मिले, एक था गोबर का गड्ढा और एक था शक्कर का। सो हम तो शक्कर के गड्ढे में गिर गए और तुम गोबर के गड्ढे में गिर गए। वजीर बोला कि महाराज हमने भी ऐसा ही स्वप्न देखा कि हम तुम दोनों जा रहे थे, सो महाराज तो शक्कर के गड्ढे में गिर गए और हम गोबर के गड्ढे में गिर गए, पर इससे आगे थोड़ा और देखा कि महाराज हमें चाट रहे थे और हम महाराज को चाट रहे थे। अब यह देखो कि बादशाह गिरा तो शक्कर के गड्ढे में था और चाट रहा था गोबर और वजीर गिरा तो गोबर के गड्ढे में था, पर चाट रहा था शक्कर। सो भैया ! अपनी दृष्टि निर्मल बनाने का यत्न रखो, यही शरण है और जगत् में कोई शरण नहीं है।

शरणचतुष्क—ज्ञानी जीव का शरण निश्चय से शुद्ध आत्मस्वरूप है और व्यवहार में जो शुद्ध आत्मा हो गए हैं उनके विकास का स्मरण है और जो शुद्ध आत्मा होने के प्रयत्न में लगे हैं ऐसे

साधुजन शरण हैं। क्या शरण है ज्ञानी जीव को, इस तत्त्व को चत्तारिदण्डक में बताया गया है। चत्तारि शरणं पव्वज्जामि। में चार की शरण को प्राप्त होता हूँ। वे चार कौन हैं ? अरहंत, सिद्ध, साधु और धर्म। अरहंत और सिद्ध एक ही श्रेणी में रखे जाते थे। तब शरण कहलाते तीन-परमात्मा साधु और धर्म, किंतु परमात्मा में अरहंत और सिद्ध—ऐसे जो दो भेद करके शरण की बात कही गयी है। उसमें मर्म यह है कि उत्कृष्ट विकास तो सिद्ध प्रभु में है। भाव विकास की ही बात नहीं किंतु भावविकास तो जो अरहंत में है वह सिद्ध में ही है। साथ ही बाह्य लपेट भी अब नहीं रहे। शरीर का सम्बंध, कर्म का सम्बन्ध अब नहीं रहा, इसलिए सर्वोत्कृष्ट हैं सिद्ध भगवंत परन्तु यह सारी महिमा और सिद्धप्रभु का पता भी बताना, यह अरहंत प्रभु से हुआ है। इस कारणपरमात्मा को दो पदों में विभक्त किया है—अरहंत और सिद्ध।

चत्तारि के चार लक्ष्यभूत अर्थ—में चार की शरण को प्राप्त होता हूँ। वे चार यही हैं इनके लिए चत्तारि शब्द दिया है। अब चत्तारि में चत्तारि की बात आ जाती है। वह चत्तारि क्या है? चत्तारि का अर्थ है चत्ता अरि। चत्ता मायने त्यक्ता, छोड़ दिया है अरि मायने चार घातिया कर्म जिसने, उनका नाम है चत्तारि याने अरहंत देव। चत्ताअरि छोड़ चुके हैं समस्त अरियों को जो के है चत्तारि, मायने सिद्ध। छोड़ रहे हैं अरियों को जो वे हैं चत्तारि मायने साधु और छोड़े जाते हैं अरि जिस उपाय से उसका नाम है चत्तारि अर्थात् धर्म। बड़े पुरुषों की वाणी निकलना तो सहज है किंतु मर्म बहुत भरा होता है। चत्तारि बोलते हुए हम नहीं कह सकते कि ऐसी दृष्टि रखकर ही चत्तारि शब्द कहा हो। किंतु सहज ही ऐसी वाणी निकलती है कि जिससे अर्थ और मर्म अनेक उद्गत होते रहते हैं।

शरणदृष्टिक्रम—इन चार शरणों में प्रथम है—‘अरहंते शरणं पव्वज्जामि’ में अरहंतों की शरण को प्राप्त होता हूँ। जब दो वर्ष के बच्चे को कोई डराता है, कुछ धमकाता है तो वह दौड़कर किसकी शरण में जाता है ? अपनी माँ की गोद की शरण में जाता है और जब वह १२-१४ वर्ष का लड़का हो जाता है उसे कोई डराये तो अब माँ की गोद में नहीं जाता। वह बाप के पास बैठता है। अब जरा बड़ा हुआ, विवाह हो गया, घर में लड़ाई भी होने लगी तो अब माँ और बाप के पास भी वह नहीं जाता है, वह बहकाने वाले गुन्डों की शरण में, मित्रों की शरण में जाता है, वहीं सलाह लेता है। तो जैसे-जैसे उसकी अवस्था बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे उसके शरण का आश्रय भी बदलता जाता है और वह जब ज्ञानी हो जाता है संसार, शरीर, भोग से विरक्त हो जाता है तब उसके शरण के ये सब ठिकाने छूट जाते हैं। कहीं उसे शरण नहीं प्रतीत होता।

परमात्मशरण—अब ज्ञानी उसको शरण एक प्रभु की होता है, जो भेद विज्ञान की बात बताये, आकुलताओं को हटाये। वहां इसे कुछ शांति मिलती है। अब उस शरण को प्राप्त होता है। जब इस संसार में कल्पना जालों से उद्गत संकटों के समूह आ पड़ रहे हैं, ऐसी स्थिति में किसकी शरण जायेगा यह जीव, जो इन सब संकटों से पृथक् है। तो यों प्रकृत्या ज्ञानी जीव अरहंत की शरण को प्राप्त होता है। अरहंत देव ने यह बताया है कि आत्मा का सर्वोत्कृष्ट विकास परम आनन्द की स्थिति एक सिद्ध अवस्था में है। उसे भी यह कैसे भूल सकता है? यह अरहंत अवस्था तक नहीं अटक सकता, अतः परोपकारी होने के कारण अरहंत की शरण में प्रथम गया है लेकिन यहां न अटककर सिद्ध की शरण में पहुंचता है। सो ज्ञानी के अन्तर में धुनि होती है—‘सिद्धे सरणं पव्वज्जामि’ में सिद्धों की शरण को प्राप्त होता हूँ।

साधुशरण--भैया ! अब बुद्धि व्यवस्थित हो गयी, अब कोई शंका और भय नहीं रहा, कोई सतायेगा तो इस परम पिता की शरण में पहुंच जाऊँ। लेकिन ये दोनों तो आजकल मिलते ही नहीं। न अरहंत मिलते और न सिद्ध मिलते। सिद्ध तो इस विश्व में मिलते ही नहीं है। वे तो इस लोक की शिखर पर विराजमान हैं और अरहंत कभी-कभी प्रकट होते हैं सो आज इस पंचमकाल के समय में अरहंत का भी दर्शन नहीं हो रहा है। तब हमें कोई शरण ऐसा ढूंढना है जो अभी चाहें और आध घंटे में मिल जाय, ऐसा कोई शरण ढूंढना है। उससे ही काम चलेगा। तब ज्ञानी की धुनि होती है ‘साहूसरणं पव्वज्जामि।’ में साधु की शरण को प्राप्त होता हूँ।

साहू—साधु का नाम है साहू, जो श्रेष्ठ हो। कुछ लोग अपने को साहू बोला करते हैं, जैसे पटेल हैं वे अपने को साहू साहू कह कर उपयोग करते हैं। और पहिले समय में किसान लोग साहूकारों को साह, साब कहा करते थे। साहूकार मायने श्रेष्ठ, निर्दोष, ईमानदारी का काम करने वाला, उसका नाम है साहूकार। साहूकार वह जो निर्दोष काम करे। निरारम्भ, निष्परिग्रह निज सहजस्वरूप के दर्शन में निरन्तर मग्न, ऐसे ज्ञानी पुरुष, उनकी शरण को मैं प्राप्त होता हूँ।

बाह्यशरण की पद्धति उपासक का अन्तःपुरुषार्थ—भैया ! बाहर में इन तीन के सिवाय और कुछ शरण नहीं मिल रहा है, यों तो सभी कहते हैं कि तुम मेरी शरण में आ जावो। यहां के मायावी कपटी लोग भी कहते हैं, स्वार्थ भरे लोग भी कहते हैं और इन्हीं स्वार्थ भरे लोगों ने ऐसा भी प्रसिद्ध कर दिया है कि भगवान कहा करता है कि तुम मेरी शरण में आ जावो। अच्छी बात है, मिल जाय शरण तो ठीक है, मगर वह भगवान अपना आनन्द खोकर तुम्हें गोद में संभाले रहे तो तुम मचलोगे बार-बार। जैसे किसी लड़के को गोद में ले लो फिर भी मचलता है, दोनों टांगों को जल्दी-जल्दी हिलाता है, ऐसे ही यदि भगवान तुम्हें अपनी गोद में संभाल ले और

तुम्हें जरा-जरा सी देर में स्त्री की खबर आ जाय, लड़कों की खबर आ जाय और भगवान से छुटकारा पाने के लिए बार-बार मचल आ जाय, ऐसे मोही जीव को भगवान संभाले और वह संकट में आए, क्या ऐसा स्वरूप भगवान का है ?

अन्तिम व परम शरण—भगवान का स्वरूप आदर्श है, समस्त विश्व के जाननहार, तिस पर भी निज अनन्त आनन्दरस में मग्न है। वह हम को शरण में नहीं रखते किंतु हम ही उनके गुणों का स्मरण करके यथायोग्य अपने आपको शरण में ले लेते हैं। इसी कारण तत्त्वज्ञानी पुरुष अंत में यह निश्चय करता है कि 'केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि' केवली भगवान के द्वारा कहे हुए इस धर्म की शरण को प्राप्त होता हूँ। कहां गया अब यह ? धर्म की शरण में गया, जो आत्मस्वभाव रूप है, पर भक्ति तो देखो इस ज्ञानी की कि तिस पर भी यह शब्द लगा दिया है केवली के द्वारा कहे गए, कोई मुंहफट बात नहीं है वहां कि अभी तो अरहंत की शरण में जा रहा था और फिर कुछ भी सम्बंध नहीं रखकर कुछ नहीं है, वह परद्रव्य है यों झुंझला कर मैं तो आत्मस्वभाव के ही शरण में जाता हूँ। इतनी मुंहफट बात न हो जाय इसलिए यह भी ध्वनित कर रहे हैं कि मैं अपने धर्म की शरण में जा रहा हूँ, ठीक है, पर हे भगवन् ! तुम्हारे द्वारा बताये गए धर्म की शरण में जा रहा हूँ।

बड़ों की आज्ञा का पालन—भरी सभा में भी यदि बादशाह कहे कि मेरी पगड़ी उतार कर उस मेज पर धर दो, और यदि कोई उस पगड़ी को उतार कर धर दे तो उसमें कोई दोष या अपमान नहीं है क्योंकि बादशाह की ही आज्ञा है, और यदि कोई सभा का आदमी कह दे कि बादशाह की पगड़ी उतार कर उस मेज पर धर दो और यदि कोई धर दे तो उसमें बादशाह का अपमान होता है। मैं अपने मनमानी स्वच्छन्द वृत्ति से इस धर्म की शरण में नहीं जा रहा हूँ किंतु केवली भगवान के द्वारा बताए गए धर्म की शरण में जा रहा हूँ। तो इस तत्त्वज्ञानी पुरुष ने अंत में शरण पाया चित प्रकाश का, आत्मधर्म का। ज्ञानीपुरुष कर्मचेतना से शून्य हैं, कर्मफल चेतना से भी दूर है, इसलिए स्वयं अकर्ता है और अभोक्ता है।

कर्तव्यनिर्वाह में कर्तृत्व का अनाशय—जैसे किसी संस्था की कमेटी बनी है और उस कमेटी के आप मंत्री है, तो आप संस्था का कार्य कर रहे हैं मगर किसी मीटिंग में सदस्यों ने एक राय करके यह तय कर दिया कि इस संस्था की अब जरूरत नहीं है, इसे हटावो और इसका जो कुछ माल है हिस्सा है वह हिस्सा वहां दे दो तो इसमें मंत्री को भी रंच भी रंज नहीं हो

सकता क्योंकि वह तो सब सदस्यों की चीज है। उनकी ऐसी राय हुई, इसके दोष भी कुछ नहीं आता है। वह अब निर्णय किये हुए है कि हमारा कर्तव्य है कि सर्वप्रस्तावों को अमल में लें। और कदाचित यह कह दें वह ही सदस्य मंत्री के घर के लिए कि तुम्हारे घर का नक्शा ठीक नहीं है। इस से तो अच्छा है कि घर को तोड़ दो और तुम किराये के मकान में रहने लगो तो उसे मान लो ? कहीं वहां आत्मीयता है। इसी तरह जहां निमित्तनैमित्तिक सम्बंध वश अनेक बिगाड़ के काम चल रहे हैं, विभाग उठ रहे हैं, कुछ क्रिया हो रही है, कुछ अनुभव चल रहा है। इस पर भी यह तत्त्वज्ञानी ज्ञाता ही रहता है क्योंकि जानता है कि यहां तो मेरा कोई काम ही नहीं है। मेरी तो कोई यहां बात ही नहीं है ना। मैं तो ज्ञानरस निर्भर हूँ, राग रंग हो यह मेरी बात नहीं है, स्वरसतः होने वाली चीज नहीं हैं। सो ज्ञाता दृष्टा रहता है। और इसी कारण इन कर्मों का कथंचित् कर्ता होकर भी अकर्ता है और भोक्ता होकर भी अभोक्ता है।

अभोक्तृत्व का व्यावहारिक लौकिक उदाहरण—जैसे हिरण जंगल में घास चरता है, जरा सी आहट मिली तो घास छोड़ने में उसे देर नहीं लगती, तुरंत अपना मुंह उठा लेता, देखने लगता और उस स्थिति को छोड़ने में कभी विचारमग्न भी नहीं होता। क्योंकि वह हिरण अनासक्त है, वह भोक्ता होकर भी अभोक्ता है। एक दृष्टांत में लिया है, कहीं सम्यग्दृष्टि ही उसे नहीं समझना। इसी प्रकार यह ज्ञानीपुरुष कर्म प्रेरणा से कहीं रहता है, कुछ भोगता है तिस पर भी उस कर्मफल के भोगने में आसक्त नहीं है। जरा सी ही बात में वह छोड़ने को तैयार हो जाता है। जैसे कि अज्ञानी के प्रतिनिधि बिलाव को चूहा मिल जाय तो उसको छुटाने के लिए उस पर डंडे भी बरसाये जायें तो भी बिलाव चूहा छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता। उसे आसक्ति है।

अज्ञानी के भोगासक्ति—अज्ञानी जीव को जो भोग मिला है, जो समागम मिला है, उसको किसी भी हालत में, किसी भी अवसर में छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता। यह है उसके भोक्तापन की आसक्ति। संकटों से परेशान है तिस पर भी नहीं छोड़ सकता। जैसे एक कहावत है कि एक गरीब भाई के पास एक रूपया था, जाड़े के दिन थे, तो जब रात आए तब तो सोचता था कि अब कल रजाई बनवायेंगे क्योंकि जाड़ा बहुत पड़ता है और सुबह होती, जब सूर्यनारायण दिख जाते हैं तब विचार होता है कि अब इस रूपये का एक भैया और मिलायेंगे। यह अहाना है, प्रसिद्ध है, हमें याद नहीं है। तो ज्ञान और अज्ञान में महान् अन्तर है। ये सारे के सारे संकट अज्ञान भरे हैं।

ज्ञानी की आत्मप्रतीति—ज्ञानी पुरुष कर्मचेतना और कर्मफल चेतना से रहित है इसलिए वह न कर्म का कर्ता है, न कर्म का भोक्ता है। इसका स्वरूप आगे बतायेंगे। कर्मचेतना क्या कहलाती है और कर्म फल चेतना क्या चीज है? मोटे रूप से यह समझ लो कि मैं ज्ञान के सिवाय अन्य कुछ भी काम करता हूँ, ऐसा आशय होने का नाम कर्मचेतना है और उस जानन-जानन के सिवाय और कुछ भी भोगता हूँ ऐसे आशय का नाम है कर्मफल चेतना। जैसे अपने नाम की खबर कोई नहीं भूलता, खाते-पीते, उठते, बैठते, सोते वह नाम की खबर नहीं भूलता। उस नाम को लेकर यदि कोई जरा सी हल्की बात कह दे तो आग भभक उठती है। जैसे लौकिक जनों को अपने नाम की खबर नहीं भूलती इसी प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुष को अपने ज्ञानस्वरूप की खबर नहीं भूलती। खाते पीते चलते उठते घर में रहते खेद भी करता है मगर दृष्टि यह है कि मैं तो सबसे न्यारा केवल ज्ञानस्वरूप एक पदार्थ हूँ। कोई भुलावे में डाले तो भी नहीं भूलता। कोई प्रशंसा करे तुम तो महान् उद्योगपति हो, तुम तो इन सबके नेता हो, आपका तो इस जगत् में बड़ा उपकार है, आप तो नवाब साहब हैं, कितनी ही प्रशंसा करके भुलावे में डाले, पर ज्ञानी अन्तर में यही देखता है कि मैं तो देह तक से भी न्यारा एक ज्ञानमात्र हूँ। इस लोक में मैं ज्ञान के सिवाय अन्य और कुछ कार्य नहीं करता।

जैसा आना वैसा ही जाना—दो भाई थे, बड़ा भाई बी० ए० पास था, बहुत बड़ी उम्र में वह गुजर गया, कुछ दिन गुजरने के बाद लोग आए फेरा करने तो एक ने यह पूछा कि तुम्हारा भाई क्या कर गया ? हर एक कोई पूछते हैं—याने मरते समय कुछ दान पुण्य कर गये या क्या कर गए ? तो छोटा भाई उत्तर देता है 'क्या बताए यार क्या कारनामा ये कर गए। बी० ए० किया, नौकर हुए, पेंशन मिली और मर गए।।' लोग पूछते हैं ना क्या कर गए। तो उन्हें बता दिया। यही करते हैं सब । ऊँची कक्षा पास की, सर्विस की, पीछे रिटायर हुए और अंत में मर गए। और व्यापारी लोग भी ऐसा ही करते हैं। कुछ बुद्धि बनाया, कुछ रंग ढंग जोड़ा, व्यापार चलाया, पैसा कमाया, सम्पत्ति कमायी, रिटायर हुए, या जैसी बात हो और अंत में मर जाते हैं। पर भाई चाहे जो बीते, सब परिस्थितियों में यह भाव रहें कि मैं जाननमात्र के सिवाय और कुछ करने वाला नहीं हूँ, विकल्प ही केवल कर पाता हूँ, विकल्पों के सिवाय और कुछ नहीं करता।

ज्ञानी के सहज आनन्द से तृप्ति होने के कारण कर्मफल का अभोक्तृत्व—भैया ! कर्तृत्व बुद्धि होना यह एक विकट मोह और अज्ञान है कि इस आशय में फिर अपने हित की बात ध्यान

में नहीं रहती। यह ज्ञानी पुरुष न तो कर्मों का कर्ता है और न कर्मफल का भोक्ता है, किंतु कर्म और कर्मफल का मात्र ज्ञाता रहता है। ज्ञानी जीव कर्मफल का भोक्ता नहीं है क्योंकि वह शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न सहज परम आनन्द को छोड़कर पंचेन्द्रिय के विषयों के सुख में नहीं परिणमता है। इस कारण ज्ञानी भोक्ता नहीं होता है। वह कर्मबंध को, कर्मफल को, पुण्य पाप को मात्र जानता है। ये साता वेदनीय आदिक पुण्य प्रकृतियां हैं। ये असाता वेदनीय आदिक पाप प्रकृतियां हैं। इस इस प्रकार के बंध हैं, सुख दुःखरूप कर्म के फल हैं, इन सबको वह जानता ही है अर्थात् वह आत्मभावना से उत्पन्न अतीन्द्रिय आनन्द से तृप्त होकर उनको मात्र जानता है।

ज्ञानी के दो पद—ज्ञानी जीव निर्विकल्प समाधि में स्थित है। वह तो साक्षात् ज्ञानी उपयोगता: है ही किंतु जिसने निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न आत्मीय आनन्दरस का स्वाद पाया, किंतु वर्तमान में उपयोगी नहीं हैं, किंतु प्रतीति सहित है तो वह भी ज्ञानी है। इन दोनों प्रकार के ज्ञानियों में से जो उपयोग से निर्विकल्प समाधि में स्थित है वह तो अकर्ता और अभोक्ता है ही, किंतु वह ज्ञानी भी जो वर्तमान में निर्विकल्प समाधि में स्थित नहीं है, किंतु प्रतीति सहित है वह भी श्रद्धा में अकर्ता है।

ज्ञानियों का ज्ञानबल—जो निर्विकल्प समाधि में स्थित हैं उनके परम समता परिणाम कहा है, जो ज्ञान और आनन्दरस करि पूर्ण है और यह अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त शक्तिरूप से आलम्बन सहित है, किंतु समाधिस्थ ज्ञानी समस्त परद्रव्यों के आलम्बन से रहित है। उनका आलम्बन है तो अनन्त चतुष्टय का आलम्बन है, परद्रव्य का आलम्बन नहीं हैं, परभावों का आलम्बन नहीं हैं। ख्याति, पूजा, लाभ भोगे हुए भोगों का स्मरण, देखे व सुने हुए भोगों का स्मरण, आकांक्षा, निदान बंध आदि कोई उत्पात नहीं है। ऐसे समता परिणाम में जो ज्ञानी स्थित है वह न कर्ता है, न भोक्ता है। यह स्थिति रहती है तीन गुणियों के बल से।

तीन गुणियों की आवश्यकता—मोही जन इस मन वचन काय को स्वच्छन्द प्रवर्ताते हैं, इससे कितनी चिंताएँ और आकुलताएँ आ जाती हैं। जो बोलने की भारी आदत रखते हैं, वचनों पर जिनका संयम नहीं है, उनको विह्वलता, अशांति पद-पद पर है। अधिक बोलने वाला विपत्तियों का स्वयं साधन है। कम बोलना चाहिए, सोचकर बोलना चाहिए। दूसरे की पीड़ा न उत्पन्न हो

ऐसा वचन बोलना चाहिए। आजीविका अथवा आत्मोद्धार का कोई प्रयोजन हो तो बोलना चाहिए अन्यथा वचनों पर संयम होना चाहिए। न बोलना चाहिए। सर्व का भला हो, ऐसे विचार बनाना चाहिए। मेरा भला हो, ऐसे विचार बनाना चाहिए। मेरा भला हो, मुझे सुख हो, मुझे आराम मिले, दूसरे का चाहे कुछ हो, ऐसी खुदगर्जी के साथ अपने विचार न बनाना चाहिए। शरीर से हमारी प्रवृत्तियां ठीक हों, दयारूप हों, गुणियों के विनयरूप हो तो यों तीन गुणियों का यथाविधि यथाशक्ति साधन हो तो उससे समतापरिणाम का मौका मिल जाता है।

निज की संभाल—भैया ! कल्याण का मार्ग बहुत जिम्मेदारी का है। गृहस्थ जन घर में रहते हैं। आज जैसे घर में रह रहे हैं तो कोई बुरा नहीं है, यदि गृह में ही अपने गृहस्थ धर्म के अनुकूल साधना बन जाय 'जिनसे घरमांहि कछू न बनी उनसे बन मांहि कहाँ बनि है।' आवो दीक्षा ले लो, हो जावो बाबा। अरे जो बाबा बनना चाहते हैं उनसे पूछो कि तुमने घर में रहकर अपना आदर्शरूप भी बना पाया कि नहीं। जो घर में अपना आदर्श नहीं बना सका तो बाबा बनकर क्या बनावेगा ? सो संभालो अपना पद। धन अर्जन के समय धन का अर्जन करो, धर्मपालन के समय धर्म का पालन करो, और पालन पोषण उपकार सेवा यथासमय करो और ऐसे स्वभाव के रूचिया बनो कि जब चाहे जहां कहीं एक इस आत्मस्वभाव की दृष्टि की धुनि हो।

ज्ञानी की अभ्रान्त वृत्ति—भैया ! जगत् में हम और आपके लिए बाहर में कहीं अंधेर नहीं है। बाहर में जो अन्धेर होता है वह अपने आपके मन में बना हुआ है। वह मन का अंधेर मिटे तो प्रकाश और आनन्द की प्राप्ति हो। यह ज्ञानी पुरुष अपने में कभी यह भ्रम न पैदा करेगा कि मेरा काम ईंट पत्थर बनाने का भी है या मेरा काम रागद्वेष करने का भी है। कोई भ्रम नहीं करता। उसका काम जानन वृत्ति का है, बन सके या न बन सके, पर श्रद्धा पूरी यथार्थ हो, उससे ही लाभ है। 'कीजै शक्ति प्रमाण शक्ति बिन श्रद्धा धरे।' शक्ति प्रमाण करो। पूजा में लिखी हैं ये बातें। उसका यह अर्थ नहीं है कि शक्ति प्रमाण गोला बादाम चढावों। न शक्ति हो तो श्रद्धा करते रहो। वह तो एक आलम्बन है । भाव वहां यह है कि रागद्वेष न करना, भगवान के आदर्शरूप अपनी वृत्ति बनाना यह काम हमें करने को पड़ा है सो करना शक्ति प्रमाण, पर शक्ति न हो तो श्रद्धा तो रखो कि मेरा काम तो जाननमात्र का है।

दृष्टांत सहित ज्ञानी के ज्ञातृत्व का समर्थन—ज्ञानी जीव को कभी यह भ्रम नहीं होता कि मेरा कार्य ईंट पत्थर बनाने का है या रागद्वेष करने का है और न यह भ्रम भी होता है कि मेरा भोग तो यह विषय है, इसके भोगने में ही हित हैं ऐसा भ्रम उसके नहीं होता हैं किंतु ज्ञान

चेतनामय होने से केवल ज्ञाता ही रहता है। कर्मबंध, कर्मफल, पुण्य पाप सबको केवल जानता है। इसके अन्दर और बाह्य करना और भोगना सब कुछ ज्ञान चेतनारूप है। जैसे कभी किसी प्रचारक का भेष देखा होगा जो किसी औषधि का दवाई का प्रचार करे तो उनके कुत्तों पर भी दवाई का नाम, टोपी पर भी दवाई का नाम, छाता लगाये हो तो उसमें दवाई का नाम लिखा रहता है। इस तरह का वे सारा रूपक बना लेते हैं। यह तो उसका बनावटी रूप है, किंतु ज्ञानी का तो सारा रूपक अन्तर और बाह्य ज्ञानचेतना रूप है। यह मात्र ज्ञाता रहता है। इसी का दृष्टांत द्वारा कुन्दकुन्दाचार्यदेव कह रहे हैं।

दिट्ठी जहेव णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव।
जाणइ य बंधमोक्खं कम्मदुयं णिज्जरं चेव।।३२०।।

आत्मा के अकर्तृत्व व भोक्तृत्व में दृष्टि का दृष्टांत—जैसे दृष्टि बाह्य पदार्थों को करती नहीं है मात्र जानती है भोगती भी नहीं, इसी प्रकार यह ज्ञान बंध मोक्ष उदय निर्जरा किसी का भी न कर्ता है, न भोक्ता है किन्तु जानता है। एक दृष्टान्त देते हैं आँख का। दृष्टि कहो, आँख कहो, नेत्र कहो, नयन कहो, चक्षु कहो सब एकार्थक है। जैसे यह आँख दृश्य पदार्थों से अत्यंत जुदा है। आप वहां भीत तक देख रहे हैं पर आँख यहीं की यहीं धरी है। जरा सी भी दूर नहीं खिसकी। तो दृश्य पदार्थों से यह आँख अत्यंत भिन्न है। अतः दृश्य पदार्थ का न यह आँख कुछ करने में समर्थ है और न भोगने में समर्थ है। इसलिए दृश्य पदार्थ को भाव देखते ही हैं, किंतु न करते हैं, न भोगते हैं।

दृष्टि के कर्तृत्व व भोक्तृत्व मानने पर आपत्ति—अगर यह आँख दिखने में आने वाली चीज को करने लगे और भोगने लगे तो क्या विडम्बना हो जाय, उसका एक उदाहरण लो। जैसे इस आँख ने आग को देखा तो यह बतलावो कि यह आँख आग का कर्ता है या भोक्ता है? यदि आँख आग को करने लगे तो फिर चूल्हा फूँकने की जरूरत न रहेगी क्योंकि आग अगर चूल्हे में कम हो जाय तो तेज आँख करके आग को देखने लगे क्योंकि आँख तो आग का कर्ता है। सो कर दो तेज, आग जल जाय, पर ऐसा हो सकता है क्या ? आँख यदि आग को भोगने लगे तो आँखें ही चली जायेंगी। तो यह बात तो जल्दी समझ में आ जाती है क्योंकि अपनी आँख सबको प्यारी है। कोई नहीं चाहता कि मेरी आँख फूट जायें, इस लिए झट समझ में आ जाता है।

इसलिए आँख आग को भोगती नहीं है।

दृष्टांत द्वारा आत्मा के अकर्तृत्व का समर्थन—इसी तरह दिखने वाला यह आत्मा परपदार्थों का न कर्ता है, न भोक्ता है, किंतु चेतने का स्वभाव वाला होने से मात्र अपने में उन पदार्थों के जानने रूप से जानता रहता है। अग्नि जब कम हो जाती है तो पंखे से धौंकते हैं। वह उसका निमित्त है जिसे अग्नि से ज्वाला निकलने लगती है, पर अग्नि के बढ़ा देने में, ज्वाला निकलने में तो आँख निमित्त तक भी नहीं बनती हैं। जैसे अग्नि लोहे के टुकड़े में लग जाय तो लोहे का टुकड़ा स्वयं उष्णता रूप परिणम जाता है। तो लोहे ने अग्नि का अनुभव कर लिया क्योंकि वह लोहा स्वयं अग्निरूप बन गया है। तो इस तरह यदि आँख आग भोगे तो आँख न रहेगी, न आँख वाला रहेगा। तो जैसे दृष्टि केवल देखने मात्र का स्वभाव रखती है सो वह सबको केवल देखती है, इसी प्रकार ज्ञान भी स्वयं दृष्ट होने से कर्मों से अत्यंत जुदा है। इस कारण निश्चय से कर्मों के करने और भोगने में असमर्थ है। अतः कर्मों को ज्ञान न करता है और न भोगता है, किंतु केवल मात्र जानन मात्र का स्वभाव होने से कर्मबंध के अथवा मोक्ष के कर्मोदय को अथवा कर्म निर्जरा को केवल जानता ही है।

ज्ञानी की अन्तः अनाकुलता का एक उदाहरण—भैया ! बहुत से स्थल ऐसे होते हैं कि न कर्ता है न भोक्ता है, किंतु जानता है। जैसे एक स्पष्ट उदाहरण ले लो दस बीस बार जो लड़की ससुराल जा चुकी है ऐसी लड़की इक्कीसवीं बार भी जा रही है, तो जिस समय जैसा रिवाज है खूब चिल्लाकर खूब रोती हुई—अरी मोरी महतारी फिर जल्दी बुला लियो आदि कहकर कितनी बुरी तरह से वह रोती है और अंतर में परिणाम हर्षपूर्वक जाने का है। तो वह रूदन को न करने वाली है और न भोगने वाली है किंतु वह तो ज्ञाता बन रही है अपने कार्यों की क्योंकि उस रूदन और क्लेश के साथ तो उसकी तन्मयता ही नहीं है और सुनने वाले चाहें दुःख के मारे आँसू ढालने लगे, देखो इसको बड़ा क्लेश है। ज्ञानी जीव को अपनी आत्मभावना से उत्पन्न हुए आनन्दरस का इतना विशाल संतोष है कि किसी भी परिस्थिति में हो, उन सब परिस्थितियों का वह मात्र जाननहार रहता है। उसमें कर्ता और भोक्ता की बुद्धि नहीं लगती।

पारिणामिक स्वरूप—इस प्रकरण में यह बताया गया है कि हे आत्मा तू तो परमार्थतः कर्तृत्व भोक्तृत्व बंध मोक्ष आदि सभी परिणामों से रहित है। तू अपने सत्तासिद्ध शुद्ध उपादान को तो देख। केवल ज्ञाता ही है, ज्ञायक स्वरूप है और ज्ञायक शब्द से भी क्या कहें, वह तो एक

अद्भूत नाथ ही है। सर्व विशुद्ध पारिणामिक परमभाव को ग्रहण करने वाले शुद्ध उपादानभूत स्वरूप के मार्ग तक, तू पारिणामिक भाव रूप है। पारिणामिक भाव किसे कहते हैं? जल्दी में लोग यों बोल जाते हैं कि जो बदले नहीं, ध्रुव हो, अचल हो उसे कहते हैं पारिणामिक भाव। यद्यपि यह लक्ष्य भूत भाव का स्वरूप है किंतु पारिणामिक शब्द से सीधा यह ध्वनित नहीं होता, किंतु परिणाम ही जिसका प्रयोजन है उसे पारिणामिक कहते हैं। परिणामः प्रयोजनं यस्य सः पारिणामिकः। परिणमन परिवर्तन निरन्तर प्रतिसमय परिणमते रहना, यह ही जिसका प्रयोजन है उसे पारिणामिक भाव कहते हैं।

परिणाम से परिणामी की रक्षा—वस्तु की सत्ता की रक्षा करने वाला उत्पाद व्यय है। उत्पाद व्यय न हो तो वस्तु की सत्ता न रह सके। अणु पदार्थ किसलिए हैं ? उनमें विशेष प्रयोजन न देखो कि मकान बनाने के लिए हैं या कुछ लोगों के आराम के लिए हैं, नहीं वे तो परिणमते रहने के लिए होते हैं, उनका दूसरा प्रयोजन नहीं और यह जीव किसलिए है? क्या राज्य करने के लिए है? क्या धनी बनने के लिए है? क्या नेता होने के लिए है ? क्या झगड़े टंटा करने के लिए है ? नहीं। यह जीव भी अपने परिणमते रहने के लिए है। जीव का अपना परिणमता रहना क्या है? अपने सत्त्व के कारण, अपने द्रव्यत्व गुण के कारण, पर के सम्बंध बिना स्वयं परिणमते रहना, उसे कहा है परिणाम। वह परिणमन वहां अभेदरूप सा बन जाता है। उसके पृथक् वर्णन किया जाना अशक्य है। अगुरुलघुत्व गुण के कारण जो जीव का परिणमन है वह है जीव का प्रयोजन सो पारिणामिक भाव वह है कि जिसके ये प्रयोजन चलते रहें, परिणमन। तो है अनित्य और जिसके चल रहा ऐसा कहने से ही स्वयं हो गया नित्य।

स्वभावदृष्टि के उद्यमन की शिक्षा—ऐसे स्वभाव को ग्रहण करने वाली दृष्टि से निहारो तो जरा, यह कर्तृत्व, भोक्तृत्व, बंध, मोक्ष सर्वकल्पनावों से शून्य है। अन्तर में स्वरूप निरखा जा रहा है। जो अन्तर की कणिका ज्वलित होकर इतना विशालरूप बना सके कि सर्व विश्व में व्यापक बन जायेगा। ऐसा मात्र जाता दृष्टा यह मैं आत्मा हूँ। सो इस दृष्टांत से यह पूर्ण निश्चय बना लेना कि जैसे आँख सबको देखकर भी सबसे अलग है, करने और भोगने का तो वहां रंच सवाल ही नहीं है। इस प्रकार यह मैं आत्मा अथवा यह मैं ज्ञान समस्त पदार्थों को जानकर भी समस्त पदार्थों से अत्यंत जुदा हूँ। इसको करने और भोगने का तो यहां सवाल ही नहीं पैदा हो सकता है, ऐसे कर्तृत्व और भोक्तृत्व से रहित अपने ज्ञानस्वरूप का निश्चय करके

आत्मस्थित रहने का उद्यम करना है।

आत्मा को कर्ता ही मानने में मोक्ष का अभाव—इस प्रकरण में यह बात बतायी जा रही है—आत्मा अकर्ता है और अभोक्ता है किंतु मोही जीव अज्ञान अंधकार से व्याप्त होकर आत्मा को कर्ता देखते हैं, ऐसे जीवों का, चाहे वे मोक्ष भी चाह रहे हों तो भी लौकिक पुरुषों की भांति मोक्ष नहीं होता है। जैसे लौकिक पुरुष अपने सुख दुःख आदि सब बातों में भगवान को कर्ता मानते हैं, सुख दिया तो भगवान ने, दुःख दिया तो भगवान ने और लड़का मारा जिलाया तो भगवान ने और लड़का पैदा किया तो भगवान ने। अपनी सारी बातों को जो भगवान की की हुई मानता है जैसे उन्हें यह गुंजाइश नहीं है कि वे अपने स्वरूप में मग्न हो सकें और इसी कारण मोक्ष होना असम्भव है, इसी प्रकार जो स्वरूपतः अपने आत्मा को विभावों का कर्ता देखते हैं—मेरा ही तो राग करने का काम है, मेरा ही तो विषय भोगने का काम है, इस तरह जो अपने को कर्ता मानते हैं उनको भी मोक्ष नहीं होता है। इस बात को आगे की गाथा में कहा जा रहा है।

लोकस्स कुणदि विण्हू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते।

समणाणं पि य अप्पा जदि कुच्चदि छव्विहे काए॥३२१॥

लौकिक व आत्मकर्तृत्ववादी श्रमण, इन दोनों के आत्महित के अलाभ में समानता—लोक के मध्य में कोई एक विष्णु व्यापक देव, नारकी, तिर्यच मनुष्य जीवों को उत्पन्न किया करता है और यहां इन श्रमणों के मन में भी यदि यह बात आ जाय कि यह आत्मा ६ प्रकार के कार्यों को रचता है—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रस काय। इन को आत्मा ही किया करता है। तो आप देखेंगे कि स्वरूप की पकड़ दोनों ने नहीं की। लोक में एक भगवान को कर्ता मानने की प्रसिद्धि क्यों हो गई? कुछ भी थोड़ी बात होती है तो वह बात बढ़कर बड़ी बनती है। कोई रंच मात्र भी उसमें मर्म न हो, बात न हो और फिर फैल जाय, ऐसा तो नहीं होता है। उसके प्रारम्भ में जहां से बिगड़ना था उसका आशय बिगड़ गया वहां मूल में कुछ बात हैं, तब लोक में यह प्रसिद्धि हुई कि भगवान समस्त जगत का कर्ता है। वह क्या है सो बतावेंगे।

बात के बतंगड़ा होने में एक दृष्टांत—एक सेठ के यहां प्रीतिभोज हुआ। सेठ ने सोचा कि ये लोग हमारी ही पातल में खार्येंगे और उसी में छेद करेंगे। क्योंकि दाँत खुजलाने पड़ते हैं।

पातल में सींक लगी होती है। यदि बजाय पातल के हम लोगों को कटोरा मिलता तो सींक का झंझट न रहता। कोई कहता नीम की सींक ले आवो, कोई कहता लकड़ी की सींक ले आवो लेकिन कैसे मिले उसमें सचित का दोष है। तो पातल से सींक निकालकर छेद कर डालना यह तो अच्छा नहीं है ना। उसी पातल में खाये और उसी में छेद कर दे तो एक आदमी से तीन-तीन अंगुल की सींक भी परसवा दी। अरे जहां पेड़ा मिठाई सब परस रहे हैं तो एक छोटा सा टोकना सींकों का भर दिया, एक आदमी एक-एक आदमी को तीन अंगुल की सींक भी परोसता जाय। सो खाने के बाद किसी ने पातल में छेद नहीं किया क्योंकि सींक सभी को मिल गयी ना। सेठजी गुजर गए। ७-८ वर्ष बाद उनके लड़कों ने पंगत करी तो लड़के सोचते हैं कि ऐसी पंगत करें कि बाप का हम नाम ऊँचा उठा दें। उसने ३ मिठाई बनवाई थी तो अपन ७ बनवायेंगे। और उसने इतने लोगों को निमंत्रण दिया था, अपन इतने आदमियों को निमंत्रण करेंगे। और एक भैया ने कहा कि उसने एक-एक पतली लठिया भी परोसी थी (सींक) अरे तो अपन उससे तिगुनी बड़ी परोसेंगे। बजाय तीन अंगुल के १२ अंगुल का जितना कि बच्चों के लिखने का वर्तना होता है उतनी बड़ी डंडियां परोसी गयी। लड़के भी जब गुजर गए तो लड़कों के लड़कों ने पंगत करी। हम अपने बाप का नाम खूब रोशन करेंगे। तो उसने ७ मिठाई बनवायी थीं अपन ११ बनवायेंगे। उसने एक वेथा की डंडी परोसी थी अपन सवा हाथ के बहुत से डंडे बनवाये। जब सब कुछ परोसा गया तो पीछे से सवा सवा हाथ का डंडा भी परोसा गया। तो भाई यह सवा हाथ का डंडा परोसने की नौबत कहां से आ गयी ? कुछ तो मूल में बात होगी। मूल में बात थी वही कि लोग पातल में छेद न कर दें। उस उद्देश्य को तो भूल गए और डंडे परोसने लगे।

भगवान की मर्जी बिना पत्ता भी नहीं हिलता। सो भाई तुम्हारी बात तो है सच, पर कहां सच है उसको कहना चाहिए? ये सब कारण परमात्मा जो अनादि से मर्जी वाले बने हुए हैं, यदि इनकी मर्जी न होती तो यह क्या एक भी पर्याय मिलती यहां विभाव की, क्या कुछ भी परिस्पंद होता ? क्या रंच भी सम्बंध बनता ? तब मर्जी बिना कुछ हिला तो नहीं। मर्जी खत्म कर दे, सारी बात शांत हो जायेगी। एक बात। फिर दूसरी क्या चली कि भगवान के ज्ञान को भी लोग मर्जी के रूप में देखने लगे। सो यह तो बात सत्य है कि भगवान के ज्ञान में आए बिना कुछ होता नहीं है, जो ज्ञात है सो होता है। यद्यपि जो होना है सोई ज्ञात है, पर इसको किसी भी किनारे बैठकर कह लो। समस्त ज्ञानियों ने मर्जी से इसका सम्बंध जोड़ा है क्योंकि इसका ज्ञान भी तो मर्जी बिना अलग पाया हुआ नहीं है। सो जो भगवान सर्वज्ञदेव द्वारा ज्ञात है वहीं होता है।

इस रहस्य को इन शब्दों में जान लिया गया कि भगवान की मर्जी बिना कुछ नहीं होता है।

कठिन बात न करने में कुलपरम्परा का बहाना—भैया ! यद्यपि परउपाधि का निमित्त पाकर इस जीव में नानाविध परिणमन हो रहे हैं, परिणतियां हो रही हैं और अनेकों द्रव्य पर्यायों में ये शरीर रचे जा रहे हैं तिस पर भी जो स्वभाव मात्र आत्मा तकते हैं उनकी दृष्टि में यह आत्मा अकर्ता है। कितनी ही किम्बदन्तियां गढ़ी जानी पड़ती हैं पर द्रव्य को परद्रव्य का कर्ता मानने पर। कोई तो यों कह बैठते हैं कि कोई बुढ़िया थी सो वह गुजर गयी। उसके जीव को यमराज ने भगवान के सामने पेश किया। तो भगवान ने अपनी खतौनी निकाली, उसमें देखा कि उसके मरने का टाइम था ना, तो जो खतौनी देखी, रोकड़ देखी तो वहां इसके मरने का टाइम न था। इस नाम की एक गाँव में और एक बुढ़िया है। तो कहा कि जावो जावो इस जीव को उसी शरीर में ले जावो और दूसरे जीव को ले आवो। वह बुढ़िया जिन्दा हो गयी। सो कहानी सुनने में दिल तो खूब लग रहा होगा। तो ऐसी किम्बदन्तियां जैसी चाहे गढ़नी पड़ती हैं। विज्ञान द्वारा सिद्ध बात को सीधा मानने में कष्ट हो रहा है। और जो विज्ञान से न उतरें, युक्ति पर न उतरे किंतु अपने बावा के कहे आए कुल परम्परा से होता आया उसे मान लेता। सो यह मोही नाना कल्पनावों को तो कर लेता है पर सीधा मानने का उत्साह नहीं जगाता।

निर्धनता रखने में कुलपरम्परा की अनिच्छा—कोई कुल परम्परा से खोंचा ही लगता है, गरीबी ही बनी है, वह तो नहीं विचारता कि धनी मत बनो, देखो अपने बाप दादा कुल परम्परा गरीबी की बनाते चले आए हैं, खोंचा ही फेरते आए हैं, सो धनी मत बनो, ऐसा तो कोई नहीं सोचता। वहाँ तो कुल परम्परा को खत्म करना चाहते हैं। एक गरीबी की कुल परम्परा अच्छी नहीं है। पर यहां असत् श्रद्धा की परम्परा है। इसको ही समाप्त नहीं करना चाहते हैं। हम प्रभु के दर्शन करने आते हैं तो उतने ही काल हम अपना जानानन्दस्वरूप तक सकें, अकिंचन तक सकें, कुछ हमें न चाहिए, ऐसा अपने को बना सके तो हम मोक्षमार्ग के प्रकाश से लाभ लूट सकते हैं, किंतु कितना अँधेरा छाया है ? जहां नदी का बड़ा तीव्र वेग है कितना ही बाँध बाँधे, एक जगह बाँधे दूसरी जगह से उखड़ जाता है। जब मोह का वेग मोही पुरुषों में चल रहा है तो वह चाहे पुण्योदय से ऐसे भी धर्म और कुल में उत्पन्न हुआ हो जहां मोक्ष मार्ग की अनेकों ही प्रवृत्तियों की परम्परा हो तो मोह के वेग के कारण वहां भी गैल निकाल लिया जाता है और ऐसी प्रसिद्धि की ली जाती है कि अपनी इच्छा की पूर्ति वहां समझते हैं।

इस लोक के मध्य में जैसे एक कोई विष्णु ईश्वर भगवान प्रभु समस्त देव, नारक,

तिर्यच मनुष्यों का कर्ता है तो इस श्रमण ने भी अपने आत्मा को सुर, नारकादिक का कर्ता मान लिया है। ऐसी स्थिति होने पर उन दोनों का क्या हाल होता है? इस बात को इस गाथा में कह रहे हैं।

लोयसमणाणमेयं सिद्धंतं जइ ण दीसदि विसेसो।

लोयस्स कुणइ विण्हू समणाणवि अप्पओ कुणदि।।३२२।।

इस प्रकार इन लौकिक पुरुषों में और इन श्रमणों में सिद्धान्त का कोई अन्तर नहीं दीखता है। लौकिक जनों ने यदि प्रभु को कर्ता माना तो श्रमणों ने आत्मा को कर्ता माना, परंतु न तो इस विश्व को किसी अन्य एक प्रभु ने किया और न आत्मा ने ही स्वरसतः शरीरों को किया, जगत् का न प्रभु कर्ता है और न यह आत्मा कर्ता है और हो सो रहा है। किसे कर्ता बताया जाय? जब अपने मित्रों में या अपने बंधवों में बड़ा प्रेम हो और बड़ी निश्छलता हो और फिर भी किसी के द्वारा कोई ऐसा काम बन जाय कि हानि उठाना पड़े तो वहां कहते हैं भाई कसूर तो किसी का भी नहीं हैं, बानक ऐसा बन गया है।

कर्तृत्व समर्थन में कठिनाई—यहां बात तो यह है कि भाई कसूर तो आत्मा का है नहीं कुछ अर्थात् वह विपरीत आशय के स्वभाव वाला नहीं है किंतु बानक बन गया है ऐसा। दर्पण में सामने रखी हुई चीज का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तो प्रतिबिम्ब पड़ने से स्वच्छता रूक जाती है। इस स्वच्छता के रोकने का अपराध किस पर मढ़ें ? दर्पण पर मढ़िये क्योंकि दर्पण ने ही अपनी परिणति से अपनी स्वच्छता रोक दी है। पर दर्पण के स्वभाव को देखते हैं तो फिर यह गलती पायी ही नहीं जाती है। तब किस पर मढ़ें ? सामने आयी हुई चीज पर मढ़ें क्या ? सामने आई हुई चीज का न आशय खराब है, न वह अपने प्रदेश से बाहर अपनी गति रखता है, तो उस पर भी क्या अपराध मढ़ें। न उपाधि का अपराध, न उपादान का अपराध और बानक सो ऐसा बन गया है। इसमें यह बात आयी कि अशुद्ध परिणम सकने वाला उपादान उपाधि का निमित्त मात्र पाकर अपनी परिणति से अशुद्ध बन गया है, इस रहस्य को अनभिज्ञ लोग या तो प्रभु को इन पर्यायों का कर्ता मानते हैं या आत्मा को इन पर्यायों का कर्ता मानते हैं या कर्मों को इन पर्यायों का कर्ता मानते हैं। पर ये तीनों की तीनों बातें सत्य नहीं हैं।

ये मायामय दृश्य सत्य भी हैं, असत्य भी हैं। सत्य तो यों है कि वर्तमान परिणमन है और असत्य यों हैं कि किसी एक पदार्थ में होने वाला नहीं है। जो श्रमण अपने आत्मा को इन

समस्त दृश्यों का कर्ता मानते हैं उनके मत में और लौकिक जनों के मत में किसी प्रकार के सिद्धान्त का अन्तर नहीं आया। जब कोई अन्तर नहीं आया तो इसका दुष्परिणाम क्या निकलेगा ? इस बात को इससे सम्बन्धित तीसरी गाथा में कहते हैं।

एवं ण कोवि मोक्खो दीसदि लोयसमणाणं दोण्हं पि।

णिच्चं कुव्वंताणं सदेव मणुयासुरे लोए॥३२३॥

पर को कर्ता मानने का अँधेरा—जब स्वच्छ आत्मस्वरूप को नहीं ये लौकिक जन समझ सके और न श्रमण पहिचान सके तो इन दोनों को ही मोक्ष नहीं दृष्ट होता है। आनन्द के पात्र ये दोनों ही नहीं होते हैं। भ्रम का क्लेश बहुत बड़ा क्लेश होता है। जिन्हें यह भ्रम है कि मेरे सुख दुःख राग द्वेष आदि करने वाला प्रभु है तो अब यह अकिंचन हो गया अर्थात् अपनी सत्ता तक का भी विश्वास न रहा। मैं सद्भूत हूँ, यह बात अब कहां रही ? तो जैसा चिदानन्द स्वरूप सत् हूँ वह तो निरन्तर कुछ न कुछ रहा ही करेगा और जो रहा करूँ वही परिणमता हूँ। तो इसका सत्त्व ही नहीं रहा उसकी दृष्टि में। अब उसके भ्रम का क्या ठिकाना ?

आत्मा को कर्ता मानने का अँधेरा—इसी प्रकार जिसको यह भ्रम लग गया है कि रागद्वेष मोह करने का मेरा ही तो काम है। मैं ही कर्ता हूँ, मेरा ही स्वरूप है और न कर सकूँ तो मैं रहूंगा ही नहीं, मिट जाऊँगा। जिस सिद्धान्त के आधार पर यह बात मानी जाने लगी कि इस जीव का सर्वथा मोक्ष कभी नहीं होता। जिसे लोग मोक्ष कहते हैं, बैकुण्ठ कहते हैं वहां राग अत्यंत मंद रहता है, सो वहां बहुत काल तक सुख भोगते हैं, पर वह राग जब ऊपर उठता है और तब फिर संसार में आना पड़ता है, उस सिद्धान्त में यह बात आयी है कि आत्मा रागादिक स्वभावी है और वह विभावों का कर्ता है। सो इन श्रमणों ने भी जो कि आत्मा को अपने को कर्ता मानते हैं इन श्रमणों का भी मोक्ष नहीं दृष्ट हो सकता है क्योंकि उनका मोक्ष कहां? वे तो निरन्तर देव नारक तिर्यच मनुष्य इन देहों को धारण करते रहने में हैं। श्रद्धा ही उनकी ऐसी हैं।

भ्रम में पर की आत्मीयता—लोग कहते हैं कि कोयल को कौवा पालता है। कोयल भी काली और कौवा भी काला। तो कोयल का बच्चा जब तक रहता है तब तक तो रंच भी अन्तर नहीं मालूम होता है। तो कोयल के बच्चे को कौवा पालता है। भ्रम लगा है ना, पालते रहने में ही वह कौवा लगा है क्योंकि उसे भ्रम है। यह पर शरीर है, पौद्गलिक है, अचेतन है, फिर भी इसका करने का ही स्वरूप है, स्वभाव है, ऐसा भ्रम लगा है ना। इस कारण यह भ्रमी पुरुष इन सबको पाल रहा है। भ्रम के दुःख को क्या कहें?

भ्रम की विडम्बना—कहीं किसी के घर दीवाली के ७ दिन पहिले मकान की भीतों में गेरूवा रंग पोता जा रहा था। उस मनुष्य की आदत थी कि सुबह जब भी ४, ५ बजे नींद खुले तो लोटा लेकर टट्टी जाये, ऐसी आदत थी उस आदमी की। सो खटिया के नीचे रात में एक लोटा पानी रोज रख दिया जाता था। उस दिन क्या हुआ कि पानी खटिया के नीचे रखना भूल गया। उस पुरुष की लड़की ने एक लोटा रख दिया गेरूवे रंग का। जब ४।। बजे के करीब वह उठा तो लोटा उठाया और जंगल चला गया मील भर दूर। जब शौच करके सोचने लगा तो एकदम खून ही खून नजर आया। वह गेरूवा रंग था। झट उसके सिर में दर्द उत्पन्न हो गया, हाय आज तो आधासेर खून निकल गया। सर दर्द बढ़ता गया। जब घर पहुंचा तो चारपाई पर पड़ गया, बुखार चढ़ गया। लेटा हुआ है खटिया पर। इतने में लड़की आयी, सो उसे तो अपना पोतने का ही काम करना था। कहा ददा ! यहां गेरूवे का लोटा रखा था वह कहां गया ? इतनी बात सुनते ही उसकी समझ में आ गया कि वह खून नहीं था, वह लोटा गेरूवे रंग का था। लो बुखार मिट गया, सिर दर्द मिट गया। भ्रम ऐसी बुरी चीज होती है।

विसंवाद का मूल न कुछ—परस्पर में कुछ भी बात न हो और जरा सा कुछ भ्रम हो जाय तो भ्रम होने पर जरा सा बोलचाल कम हो गयी। सो अब और भ्रम बढ़ता गया। भ्रम बढ़ते-बढ़ते एकदम परस्पर में मैत्री भाव समाप्त हो गया। अब निर्णय करने कोई बैठे तो क्या निकला ? कुछ नहीं। यह इतना महान् संकट और संसार, कषायों का यह जगजाल, ये सब हम आप रात दिन भोगते हैं। इन संकटों की जड़ कितनी है? अच्छा क्या संकट है ? परिवार गुजर गया, धन कम हो गया, पड़ोसी हमसे ज्यादा धनी हो गया, बड़े संकट आ रहे हैं हम पर। ये संकट क्यों आए कि हमने प्रथम माना कि यह मेरा है। यह गलती क्यों हुई ? यों हुई कि इस शरीर को माना कि यह मैं हूँ। यह गलती क्यों हुई कि हमने रागादिक भावों को यह माना कि यह मैं हूँ। अब देखो हमने और बाहर में कुछ गड़बड़ नहीं किया सिर्फ इतना भर मान लिया कि मैं रागरूप हूँ। इतना ही भर तो मैंने काम किया कि ये सचमुच के पचासों संकट हम आप पर आ गए। अब जन्म लिया, अब मरे।

कुमति की हट का दुष्परिणाम—जैसे कोई जिद्दी लड़का भारी हठ करे कि हमें तो इस तलैया में नहवा दो, तो उसे तो गुस्सा आ गयी, पकड़कर उसे नदी में डुबाया, फिर उठाया, फिर डुबाया, फिर उठाया। अब वह चिल्लाता है कि रहने दो। अब नहीं नहवावो और वह कहे कि अभी और नहावो, खूब नहावो। सो जरा सी हठ करना इतना रागरूप है कि उसका फल यह हुआ जन्ममें, मरे। बड़ा क्लेश है। नहीं चाहता यह फिर भी यही होता है कि अभी और जन्मों और मरो।

इतना संकट लद गया केवल भ्रम की नींव पर। हम भ्रम समाप्त करें तो सब संकट दूर हो जायेगे।

लौकिक और श्रमणों की समानता—जो जीव आत्मा को कर्ता ही मानते हैं वे लौकोत्तर होने पर भी लौकिकता का उल्लंघन नहीं करते हैं। जो किसी अन्य ईश्वर प्रभु विष्णु को कर्ता मानते हैं, अपने सुख दुःख पुण्य पाप का, वे तो कहलाते हैं लौकिक जन। और जो ऐसा न मानकर अपने आपको ही सुख दुःख पुण्य पाप का कर्ता मानते हैं वे लोकोत्तर हैं अर्थात् उनसे उठे हुए हैं। कुछ अध्यात्म की ओर चले हुए हैं, फिर भी चूंकि प्रयोजन है आत्मस्वरूप में मग्न होने का, वह प्रयोजन भी नहीं पा सकते जो आत्मा को ही कर्ता मानते हैं इसलिए वे भी लौकिक ही हैं।

ग्रामारि—एक शब्द प्रसिद्ध है लोग कहा करते हैं गंवारो। अब गंवार शब्द जो है वह लोग गाली मानते हैं, पर गंवार गाली नहीं है। गंवार का अर्थ है ग्रामारि। ग्रामारि का अर्थ है पंचेन्द्रिय के विषय व अरिका भाव है विजेता। परमात्मप्रकाश में देख लो ग्राम का अर्थ इन्द्रिय विषय लिया है। और इन्द्रिय विषयों के जो अरि हैं, दुश्मन हैं, जीतने वाले हैं वे कहलाते हैं गंवार। जो विषयों को जीत करके संत हुए हैं उन संतों का नाम है गंवार। पर शब्द का अर्थ भूल गये, सो एक बात तो यह है और दूसरी बात यह है कि होय तो कोई छोटा आदमी बुद्धू सा और उसकी प्रशंसा की जाय कि आ गए गंवार साहब। गंवार तो बढ़िया शब्द है ना संतपुरुष, और है कोई मामूली पुरुष और उसे कहते हैं कि आ गए गंवार साहब तो बस गाली सी लग जाती है। जैसे कोई हो तो मक्खीचूस अर्थात् कृपण और उसको कोई कहे कि आ गए कुबेर साहब, तो वह गाली मानेगा या प्रशंसा मानेगा? वह तो गाली मानेगा। कहा तो बढ़िया शब्द है पर छोटे को बड़ा कहा इस कारण वह गाली में शामिल हो गया।

उच्चक—और भी शब्द देख लो। लोग कहते हैं कि यह बड़ा उच्चका है। उच्चका का अर्थ क्या है ? उच्चै शब्द में स्वार्थ कः प्रत्यय लग जाता है सो उस उच्चकः का अर्थ है बड़ा ऊँचा पुरुष । उच्चक से बिगड़ कर बन गया उच्चका। यह है बड़ा उच्च पुरुष, पर लोग मान लेंगे गाली। गालियों में जितने इकहरे शब्द हैं वे सब सभ्यता के जमाने में प्रशंसा के शब्द थे और प्रशंसा के लायक जो न हुआ और कहे गए ये शब्द तब से वे शब्द गाली बन गए।

कुलच्छी एवं पुंगवः--एक शब्द है कुलच्छी। कुलच्छी का क्या अर्थ है ? कुलं अच्छं यस्य सः कुलच्छी। जो कुल में श्रेष्ठ हो उसका नाम है कुलच्छी। अगर छोटे आदमी को बोला गया तो उसने उसको गाली मान लिया और पुंगा कहो तो कहो गरम हो जायें। यह है बड़ा पुंगा । पुंगा

शब्द तो आप रोज-रोज भगवान की पूजा में बोला करते हैं। पुंगा का अर्थ है श्रेष्ठ साधु पुरुष । तो यहां लौकिक शब्द कहा गया है। लौकिक का अर्थ है जो इस लोक में रह रहा है, क्या बुरा शब्द है, कुछ भी बुरा नहीं, किन्तु छोटी धारणा वालों को लौकिक शब्द बोला गया है । सो उसका फिर आशय उच्च नहीं रहा।

लौकिकता—जो पुरुष को कर्ता ही मानता है वह यद्यपि लौकिक पुरुषों से ऊंचा उठा हुआ है, वह पुरुष कर्तृत्व की धारणा से तो दूर है, इसलिए लौकिक पुरुष से ऊंचे उठा है, किंतु अपने प्रयोजन को न पा सकने से वह भी लौकिक ही कहलाता है। लौकिक पुरुषों के मत में परमात्मा विष्णु सुर नर नारकादिक कार्यों को करता है। तो कर्तृत्व का विपरीत आशय तो दोनों में बराबर है। इस कारण वह भी जन्म मरण का पात्र बना है और ये भी जन्म मरण के पात्र बने हैं। परमात्मा के जितने नाम हैं वे सब नाम भगवान के गुणों की प्रशंसा ही करने वाले हैं, किंतु किसी नाम के आधार से मतभेद हो गए अर्थ का आधार लो तो मतभेद नहीं हो।

निजधाम—विष्णु का अर्थ क्या है ? व्यापनोति इति विष्णुः। जो समस्त लोक को व्याप जाय, समस्त विश्व में फैल जाय, उसको कहते हैं विष्णु। समस्त विश्व में प्रभु का ज्ञान फैला हुआ है। जैसे मानो आपका ज्ञान इस फर्लांग आधे फर्लांग में फैला है ना, प्रभु का ज्ञान समस्त विश्व में फैला है। ऐसा जो वीतराग निर्दोष सर्वज्ञदेव है वह विष्णु कहलाता है। जो आत्मकीर्तन में चतुर्थपद है—जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु, बुद्ध, हरि जिसके नाम। राग त्यागि पहुंचू निज धाम, आकुलता का फिर क्या काम।। इसका अर्थ कोई कुछ लगाता हैं, कोई कुछ लगाता है। कोई जिन के नाम बोलकर पहुंचू या पहुँचे निजधाम बोलता, पर इसका वास्तविक अर्थ क्या है इस अध्यात्म प्रकरण में कि जिस चिद्ब्रह्म के, आत्मतत्त्व के ये नाम हैं उस आत्मतत्त्व में मैं राग छोड़ करके पहुंच जाऊँ तो फिर आकुलताओं का कोई कार्य नहीं रह सकता है।

जिन, शिव, ईश्वर—क्या-क्या नाम है चिद्ब्रह्म का ? जिन-जो रागादिक शत्रुओं को जीत ले उसे जिन कहते हैं। वह जिन कौन हुआ ? निर्दोष सर्वज्ञदेव और वह भी है एक आत्मा। शिव जो कल्याणस्वरूप हो उसे शिव कहते हैं। कल्याणस्वरूप यह आत्मा स्वयं है। यह आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी है। यह कल्याणमूर्ति है। ईश्वर जो अपने कार्य को करने में स्वतंत्र हो उसे ईश्वर कहते हैं। इस ही का नाम ऐश्वर्य है, जहां पराधीनता नहीं रहती, प्रत्येक कार्य में स्वाधीनता हो, उस ही का नाम ऐश्वर्य है। प्रभु सर्वज्ञदेव क्या कार्य करते हैं? जो करते हैं उसमें वे स्वतंत्र हैं। जैसे यहां दुकान आरम्भ करने वाले को कितनी ही अड़चनें और परतंत्रता रहती हैं, यहां वहां कुछ भी नहीं है और आत्मा के स्वरूप को देखो तो यहां पर भी पराधीनता कुछ नहीं

है। यह आत्मतत्त्व ईश्वर स्वरूप है।

ब्रह्मा, राम—ब्रह्मा जो सृष्टियों को रचे उसे ब्रह्मा कहते हैं। यह आत्मा अपनी परिणतियों को रचता रहता है। आत्मा ही क्या, जो कुछ भी सत् हो वह सर्वसत् अपने परिणमन को निरन्तर रचता रहता है। यह आत्मा भी जो असाधारण चैतन्यस्वरूप है। वह अपने इस चैतन्य के परिणमन को निरन्तर रचता रहता है। यह आत्मा ब्रह्म है। प्रभु परमात्मा ब्रह्मा है। राम—रमन्ते योगिनोः यस्मिन् इति रामः। जिसमें योगीजन रमण करें उसे राम कहते हैं। योगीजन कहां रमण करते हैं ? अपने आपमें। देखो अज्ञान का प्रसार कि जैसे हिरण के ही नाभि में कस्तूरी बसी है और उस कस्तूरी से कुछ-कुछ गंध उस हिरण को आ रही है, पर हिरण को यह बोध नहीं है कि मेरी ही नाभि में यह कस्तूरी बसी है, सो वह जंगल भर में भटकता फिरता है। तो इसी प्रकार यह अज्ञानी जीव अपने आप में बसे हुए ज्ञान और आनन्द को भोगता है परन्तु इसे स्वयं का पता नहीं है, सो ज्ञान और आनन्द बाहर ढूँढता रहता है। पर वह स्वयं जिस स्वरूप में रमण करता है वह अपने आपमें ही विराजमान है। सो यही आत्माराम है।

विष्णु, बुद्ध, हरि—विष्णु—वह जो व्यापक हो, ज्ञान द्वारा व्यापक भगवान परमात्मा है। और आत्मा में यह स्वभाव पड़ा है इसलिए यह आत्मा विष्णु है। बुद्ध-जो ज्ञानमय हो उसे बुद्ध कहते हैं। ज्ञानमय यह आत्मा है। यही बुद्ध है। हरि-जो पापों को हरे उसे हरि कहते हैं। मेरे पाप हरने कोई दूसरा न आ जायेगा। कोई नहीं है ऐसा भला भगवान जो भूलकर अपना आनन्द छोड़कर इन लटोरे खचोरों के पापों को हरने आए। पापों को हम स्वयं हरे, दूर करें तो कर सकते हैं। इसलिए यह आत्मस्वरूप ही हरिरूप है। ये सब जिसके नाम हैं यदि मैं राग छोड़कर उस आत्मतत्त्व में पहुंच जाऊँ तो फिर यहां वहां आकुलतावों का कोई काम नहीं है।

कर्तृत्वव्यामोह की समानता—भैया ! लौकिक पुरुषों ने तो परमात्मा को कर्ता माना है हम सबकी अवस्थावों का। हो वह कर्ता है तो नित्य कर्ता कहलाया, और यहां श्रमणजनों ने भी अपने आत्मा को नित्य कर्ता माना है। तो लौकिक पुरुषों के व इन लोकोत्तर श्रमणों के भी मोक्ष नहीं होता है। परद्रव्य में और आत्मतत्त्व में रंचमात्र भी सम्बंध नहीं है, पर मोह का नशा ऐसा जड़ा हुआ है जगत के जीवों पर कि चित्त से हटता ही नहीं है। मेरे भाई हैं, मेरा परिवार है, मेरा धन है, मेरा शरीर है और तो बातें जाने दो, मेरी बात है, मेरी बात नहीं मानी गयी, अब हो गए बीमार। दुःखी हो गए, कष्ट में आ गए, अरे तेरी तो कुछ बात भी नहीं है। तेरा तो निस्तरंग

चैतन्यस्वरूप है। बात के पीछे लोग अपना घर भी बरबाद कर देते हैं।

पर की हठ में बरबादी—गुरु जी सुनाया करते थे कि टीकमगढ़ में एक सुनारिन थी । सो उसने बहुत हठ किया हाथ में पहिनने वाले सोने के बखौरे बनवाने के लिए। वही बखौरे जो टेढ़ी गुड़ी करके बनाए जाते हैं। बहुत दिन तक प्रस्ताव चलता रहा और वह प्रस्ताव भी भोजन सभा में करती थी। जब सुनार भोजन करने आए तभी अपना प्रस्ताव वह सुनारिन रखे। बहुत दिनों बाद उसने कुछ कर्ज करके , कुछ और दंदफंद करके सोने के बखौरे बनवा ही दिए। अब देहातों में मोटी तो धोती पहिनें और सारा अंग धोती से ढक कर चलें। यह सब पहिले की रिवाज थी। लाइलोन तो समझते भी न थे। बरसात में जूता और चप्पल पहिनकर कोई स्त्री गाँव में निकलती ही नहीं थी, यदि बरसात हो तो सूप रख लें सिर पर, पर छतरी नहीं लेती। यह पुरानी सभ्यता की बात थी । तो बन तो गये बखौरे, पर धोती से ढके रहे। तो किसी स्त्री ने यह नहीं कहा कि तुम्हारे बखौरे बड़े अच्छे हैं। अब उसके मन में बड़ा रंज रहा कि लड़भिड़कर तो मुश्किल से बखौरे बनवाये और कोई यह नहीं कहती कि बड़े अच्छे बने हैं बखौरे। सो उसके मन ही मन बड़ा गुस्सा उठा। एक दिन इतना तेज गुस्सा आया कि अपने ही घर में आग लगा दी। होता है ऐसा। जब गुस्सा आता है तो घी का डबला हो तो उसे भी पटक दिया जाता है। चाहे पीछे खबर आये कि इसमें तो पौने दो सेर घी निकल गया। जब आग लग गयी तो उसे ख्याल आया कि अरे यह तो मेरा मकान ही जल जायेगा। तो अब हाथ पसार-पसार कर लोगों को बुलाने लगी। अरे भैया रे दौड़ो, कुवे से पानी ले आवो, बाल्टी वह रक्खी, उनके यहां से रस्सी ले लो। जल्दी आग बुझावों। जब हाथ फैला-फैला कर कह रही थी तो एक स्त्री को उसके बखौरे दिख गए। अब वह कहती है कि अरी जीजी ये बखौरे कब बनवाये ? ये तो बड़े सलोनो हैं। तो वह सुनारिन कहती है कि अरी राँड ! पहिले से ही इतने वचन बोल देती तो अपने घर में आग काहे को लगाती? तो देखो इतनी बात रखने के लिए घर में आग लगानी पड़ी।

आत्महित के आचरण की ओर ध्यान—मोही जीव को बात का भी कितना विचित्र रोष लगा है? मेरी बात नहीं रही। अहा, अब तो मरते हैं बात के पीछे और मरकर अगर बन गए पशु, तो वहां क्या बात रख लेंगे ? तो सुअवसर यदि पाया है तो इतनी नम्रता आनी चाहिए कि दूसरे का गौरव रखें। जो दूसरों का गौरव रखेगा वह सुखी रहेगा और दूसरे लोग भी उसका गौरव करेंगे। वचन ही तो मनुष्य को एक श्रेष्ठ वैभव मिला है जिससे कि इसका जीवन सुखमय रह सकता है। इससे चूके तो दुःखमय रह सकता है, बुरा कहला सकता है, अच्छा कहला सकता है।

इतना श्रेष्ठ जन्म पाकर हमारी प्रवृत्ति क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों से रहित यदि न हो तो मंद तो हो। किसी दूसरे से हम छल का व्यवहार न करें, माया न रखें। दूसरे पता ही न पाड़ सके कि आखिर इनके मन में क्या है ऐसे दगा, धोखा, छल आदि इतने कठिन परिणाम होते हैं कि जब लोक में विदित हो जाता है कि यह छल और धोखा देने वाला पुरुष है, तब उसका जीवन सुखमय नहीं रह पाता है।

निश्चलता का संकल्प—एक बार एक मनुष्य जंगल में जा रहा था, उसे मिल गया एक सिंह। तो डर के मारे वह एक पेड़ पर चढ़ गया। पेड़ पर तो चढ़ गया किंतु उस पेड़ पर पहिले से बैठा था रीछ। अब वह मनुष्य, रीछ और सिंह दोनों के बीच पड़ गया। बहुत डरा। तो रीछ कहता है कि रे मनुष्य तू मुझसे डर मत। तू किसी प्रकार इस मुझकी शरण में आया है तो मुझसे भय मत कर, सुखपूर्वक रह। वह मनुष्य सुखपूर्वक बैठ गया। तो थोड़ी देर में रीछ को नींद आने लगी। तो उस डाल पर वह सोने लगा। इतने में सिंह मनुष्य से कहता है कि ऐ मनुष्य ! रीछ मनुष्य बड़ा खतरनाक जानवर है—जानवर जानते हो किसे कहते हैं? जान मायने ज्ञान और वर मायने श्रेष्ठ। जिसका ज्ञान बड़ा श्रेष्ठ हो उसका नाम है जानवर। यह रीछ बड़ा खतरनाक जानवर है। यह अभी सोया हुआ है। जब हम नीचे से चले जायेंगे तो यह तुम्हें जिन्दा न छोड़ेगा। यह अभी सो रहा है, इसे तुम नीचे ढकेल दो, तो तुम बच भी जावोगे। मनुष्य की समझ में यह दाव अच्छा रूचा। यो मनुष्य ढकेलने लगा। रीछ जग गया, रीछ गिरा तो नहीं किंतु सोचा है यह मेरी शरण में आया है। मैं इसे धोखा नहीं दे सकता हूँ। मैंने इसे वचन भी दिया है, सो क्षमा किया। अब थोड़ी देर बाद मनुष्य को नींद आने लगी, सोने लगा। अब सिंह रीछ से कहता है कि ऐ रीछ! अब यह मनुष्य सो रहा है, बड़ा ही अच्छा है, इसे नीचे ढकेल दो, क्योंकि अभी नीचे हम है इसलिए नहीं बोल रहा है, हमारे न रहने पर यह मनुष्य तुझे न छोड़ेगा, इसलिए इस सोते हुए मनुष्य को तू ढकेल दे तो तेरी जान बच जावेगी। तब रीछ कहता है कि मैंने इसे शरण का वचन दिया है, इस कारण मैं इसे कैसे ढकेल सकता हूँ हूँ ? अब सिंह कहता है कि ऐ रीछ ! देख तू बड़ा वफादार बना हुआ है इस मनुष्य का। यह मनुष्य तुझे सोते हुए में ढकेल रहा था जिससे तू नीचे गिर जाय और सिंह खा ले। अब भी तू होश में आ और इस मनुष्य को नीचे पटक दे। तो रीछ कहता है कि यह मनुष्य चाहे मुझे दगा दे दे, उसकी बात उसके साथ है पर हम पशु जो वचन दे चुके हैं, सो उसको नहीं उलट सकते। हम इस मनुष्य की रक्षा ही करेंगे।

ज्ञानप्रकाश और निरहंकारता—भैया ! आप समझें कि महत्ता उसी में है जो सब पर रक्षा की दृष्टि रखता है। खुद ही आराम से जीकर रहे, खुद विषयभोग का आराम भोगे, दूसरे की परवाह न रखे तो उसको न स्वयं का श्रद्धान है, न अन्य पुरुषों की दृष्टि में उसकी महत्ता है। सो भैया सबको एक चैतन्यस्वरूप ही जानकर सबका गौरव रखें, सन्मान रखें, अपनी तो चाहे नीची करालें पर दूसरों को ऊँचा ही उठाये रहें, ऐसी बात यदि सबमें आ जाती है तो फिर क्लेश का कोई काम नहीं है। अभिमानी पुरुष का दृष्टांत बताया है कि जैसे कोई पहाड़ पर चढ़ा है, पहाड़ तो जाने दो, ५, ७ मंजिल का मकान हो और ऊपर की मंजिल पर चढ़ा हो तो वह नीचे वाले को बहुत छोटा देखता है और यह नीचे रहने वाला पुरुष उस ऊपर चढ़े हुए को बहुत छोटा देखता है। उस एक को अनेक छोटे देख रहे हैं और वह ऊपर चढ़ा हुआ पुरुष भी अनेक को छोटा देख रहा है। वह नीचे उतर आए और इस नीचे रहने वालों में मिल जाय तो न नीचे रहने वाले उसे छोटा देखेंगे और न वह ऊपर रहने वाला इन्हें छोटा देखेगा। इसी तरह जब हम बड़ी दूर-दूर रहा करते हैं, स्वरूप को भूल जाते हैं और ऐबों को दृष्टि में रखते हैं तब हम बड़े को छोटा देखते हैं, बड़ा मुझे छोटा देखता है। जरा स्वरूप के मार्ग से सब सबमें समा जावें तो वहां कौन छोटा और कौन बड़ा है? ऐसी सही दृष्टि हो तो वहां आनन्द बरसेगा।

निश्चयनय और वस्तुस्वातंत्र्य—परद्रव्य का और आत्मवृत्त्व का किसी भी प्रकार का सम्बंध नहीं है। प्रदेश को देखिये—प्रदेश गुणात्मक हैं। गुण-परिणमन प्रदेश से बाहर नहीं होता। इस प्रकार अखण्ड द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि से निहारो तो प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र अपने अपने स्वरूपास्तित्व में है। यह स्पष्ट विदित होगा कि एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ रंच भी सम्बंध नहीं है। फिर कर्ता कर्म का सम्बन्ध कैसा ? न कोई द्रव्य किसी द्रव्य का स्वामी है, न अधिकारी है, न सहयोगी है, न कर्ता है। निश्चय की दृष्टि का आलम्बन करके यह सब प्रकरण सुनिये। जहां उपचरित व्यवहार में अनेक द्रव्यों पर दृष्टि रहती हैं वहां कर्ता कर्म सम्बंध भी मालूम होता है और एक दूसरे का अधिकारी है यों भी दिखता है, किंतु निश्चय दृष्टि के मार्ग से देखें तो कर्ता कर्म तो दूर की बात है, एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का सहयोगी भी नहीं है। प्रमाण दृष्टि से कहें तो यह कह सकेंगे कि अमुक उपादान पर उपाधि का निमित्त पाकर अपने ही प्रभाव से प्रभाव वाला बन गया है। निमित्त का प्रभाव उपादान में नहीं गया, किंतु उपादान ही अनुकूल पर उपाधि का निमित्त पाकर अपने ही प्रभाव से प्रभावित हो गया।

प्रभाव का परिचय—भैया ! प्रभाव कहते हैं परिणमन को और प्रभाव का अर्थ क्या है ? प्रभाव शक्ति का नाम नहीं है। शक्ति नित्य होती है, कोई भी प्रभाव नित्य होता है क्या ? प्रभाव

द्रव्य का नाम नहीं है, प्रभाव पर्याय का नाम है और वह प्रभाव नामक पर्याय जो कि किसी वस्तु में हुई है, उपादान में हुई है वह प्रभाव नामक पर्याय उपादान की है या निमित्त की है ? निमित्तभूत वस्तु का प्रभाव निमित्तभूत वस्तु में ही है, जिसका जो प्रभाव है वह उसमें ही रहता है। तब यह सुविदित होता है कि ऐसा ही परस्पर में निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है कि योग्य उपादान अनुकूल निमित्त पाकर स्वयं की परिणति से अपने में प्रभाव उत्पन्न करता है। यह हुआ निमित्तनैमित्तिक सम्बंध, पर कर्ता कर्म कहां रहा ? जब एक द्रव्य का दूसरे पदार्थ के साथ कर्ताकर्म सम्बंध भी नहीं है तो फिर कर्तृत्व कैसे मान सकते हैं? इसी बात को अब अगली गाथा में कह रहे हैं।

ववहारभासिदेण दु परदव्वं मम भणंति अविदियत्था।

जाणंति णिच्छएण दु ण य मह परमाणुमित्तमवि किंचि।।३२४।।

व्यवहारभाषा का प्रयोग—व्यवहार के वचनों द्वारा अविदित परमार्थजन तो कहते हैं कि परद्रव्य मेरे हैं और जो निश्चय करके जानते हैं वे कहते हैं कि परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है। यह अर्थ हुआ आत्मख्याति के रचियता अमृतचन्द्र सूरि ने जो गाथा की है और जयसेनाचार्य ने अविदियत्था की जगह विदियत्था कहा है जिससे यह अर्थ होता है कि पंडितजन, तत्त्वज्ञानी पुरुष व्यवहारभाषा में ही ऐसा कहते हैं कि परद्रव्य मेरे हैं। निश्चय से तो वे जानते हैं कि परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है। जैसे अभी आपका सिरदर्द हो और आपको अमृतांजन मंगाना है, तो क्या आप ऐसा कहेंगे कि असाता वेदनीय के उदय का निमित्त पाकर शरीर नो कर्म में कुछ रूधिर की रूकावट होने के आश्रय से इस आत्मा में पीड़ा का परिणमन उपभोग में हो रहा है, सो इसके विनाश के लिए उसके निमित्त का निमित्तभूत अमृतांजन ला दीजिए। कोई इतना कहेगा क्या ? अरे इतना कहने का उसके पास अवसर ही नहीं है। सीधा कह देगा कि भाई सिर में दर्द है अमृतांजन ले आवो। तो कोई निश्चय एकांती यह कह बैठे कि तुम बहुत झूठ बोलते हो, अरे तुम्हारे सिर कहां है, तुम्हारे दर्द कहां है और अमृतांजन दर्द को कैसे मिटा सकेगा ? क्या एक वस्तु दूसरे वस्तु का कुछ करता भी है। अरे संसारी बातों का जो आशय है उसे जान जावो। कि कहने को तो सभी कहते हैं।

व्यवहारवचन और यथार्थ ज्ञान—भैया ! अभी आपसे पूछें कि यह लड़का किसका है ? तो आप कहते हैं कि महाराज आपका ही है और हम पकड़कर ले जायें कि अब घर में न रहने दो,

हमारे संग में कर दो, इसे पढ़ाकर हित का अवसर देंगे क्योंकि हमारा ही तो लड़का है। तो न देंगे, क्योंकि आप तो व्यवहार भाषा में कह रहे थे। किन्तु ऐसी ही आपको जानकारी हो, ऐसी बात नहीं है। क्या आप जान रहे हैं कि यह लड़का त्यागी का है ? नहीं जान रहे हैं और कह रहे कि साहब आपका ही बच्चा है, आपका ही मकान है। यहां तो इतनी गनीमत है कि अगर स्त्री को पूछें कि यह किसकी स्त्री है? तो यह कोई न कह देगा कि यह स्त्री त्यागी जी आपकी है। भला वैभव पूछें, धन पूछें तो कह देते हैं कि आपका ही है तो यह व्यवहार भाषा ही हुई और आपका जो ज्ञान है, सो ही है। व्यवहार में आप और तरह बोल रहे हो।

केवल का ज्ञान—एक बात विचारने की है कि केवलज्ञान क्या जानता है? तो एक शब्दार्थ ही अगर तक तो अर्थ मिलेगा केवलज्ञान केवल का ज्ञान करता है, अर्थात् केवल एक-एक जितने भी द्रव्य हैं उन सब द्रव्यों का ज्ञान करता है। अभी इस मार्ग से यदि जावो तो भगवान न मकान देखता है और न कोई समानजातीय या असमानजातीय पर्याय को निरखता है, उनके तो समस्त केवल एक-एक समस्त पदार्थों का ज्ञान है, और वही परमार्थ सत् है और उसमें होने वाला जो कुछ परिणमन है वह शेष सब व्यवहार है।

व्यवहारभाषा का लक्ष्य—व्यवहार की भाषा से पंडितजन 'ये परद्रव्य मेरे हैं' ऐसा बोलते हैं परन्तु निश्चय से वे जानते हैं कि परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है। अभी कुछ शब्दों की संस्कृत बनायी जाने लगी है तो किन्ही किन्ही के शब्द तो बड़े अटपट बनाए जाते हैं। अब जैसे एक शब्द है चाय। कोई जाकर कहे कि हमें चाय दो। तो चाय की संस्कृत जरा अच्छी बनावो। कुछ बात न छूटे और पूरा अर्थ आ जाय। तो एक ने बनाया कि 'दुग्धशर्करामिश्रित विशिष्ट पत्रतप्तरसं देहि।' इतना बोलने में तो कहो गाड़ी छूट जाय। व्यवहार भाषा में बोलना अनर्थ नहीं है, मगर ज्ञान में यह बात आ जाय कि यह परद्रव्य मेरा है तो अनर्थ है। यों तो व्यवहार भाषा में क्या-क्या नहीं कहते ?

व्यवहारभाषा के व्यवहार और उसके प्रयोजन—जैसे धर्मशाला में आप दो दिन को ठहर जाए और जिस कमरे में ठहरें तो आप लोगों से कहते हैं कि चलो हमारे कमरे में, चलो हमारी धर्मशाला में। लो, अब वह आपका कमरा हो गया। तो क्या ज्ञान में यह बात है कि मेरा कमरा है? नहीं है। और व्यवहारभाषा में यह बात बोल रहे हैं कि यह मेरा कमरा है। घी का डिब्बा। क्या आपके ज्ञान में भी यह बात बसी है कि घी से रचा हुआ यह डिब्बा है ? नहीं। आप जानते हैं कि यह टीन का डिब्बा है और इसमें घी रखा है। जिस लोटे से आप टट्टी जाया करते हैं—आप

बोलते हैं कि यह टट्टी का लोटा है, यह पीने का लोटा है, यह चौके का लोटा है। आपके ज्ञान में क्या यह रहता है कि यह टट्टी का लोटा है? नहीं। आप तो जानते हैं कि यह पीतल का लोटा है, इसको संडास में ले जाया जाता है, इसलिए इसका नाम टट्टी का लोटा है। अब जल्दी-जल्दी में क्या बोलें? क्या यह बोलें कि देखो जिस लोटे के आधार में पानी को लेकर संडास में जाया जाता है वह लोटा दो। क्या कोई इतना बड़ा वाक्य बोलता है? नहीं। तो व्यवहार भाषा किसी मर्म को संक्षेप करने के लिए होती है और निश्चय का ज्ञान उससे भी अति संक्षेप लिए हुए होता है।

व्यवहार का प्रयोजन निर्वाह—भंगी लोग मकानों को लिए रहते हैं उनके संडास साफ करने के लिए। तो वे भी कहते हैं कि मेरे ये ७ मकान हैं जो जो बड़ी हवेली खड़ी है ना, भंगी कह रहा है कि ये मेरी है। तुम्हारी कितनी हवेली हैं? अजी हमारे १५ हवेली हैं, सेठजी के कितने हैं? सेठजी के एक हवेली है और उनके १०, १५ और जरूरत पड़े तो हवेली गिरवी भी रख देते हैं। दूसरे भंगी को २५) में दे दिया बिना ब्याज के। जब चुका दे २०) तो हवेली ले लेते हैं। तो प्रयोजनवश व्यवहार भाषा में कुछ से कुछ बोला जाता है। पर पंडित जन निश्चय की बात से अनभिज्ञ नहीं होते हैं।

जह कोवि णरो जंपदि अम्हं गामविसयणयरट्ठं।

ण य हुंति जस्स ताणि य भणदि य मोहेण सो अप्पा।।३२५।।

पर में आत्मीयता का भाषण—जैसे कोई मनुष्य बोलता है कि यह गांव देश, नगर, राष्ट्र मेरा है, यह केवल मोह से बोलते हैं, वास्तव में ये मेरे कुछ नहीं होते हैं, जिस गांव में रहते हैं उस गांव को कहते हैं कि यह मेरा गांव है। आपका गांव कौनसा है? हमारा गांव भिण्ड है और चाहे भिण्ड में किराये में भी अच्छी न मिली हो और बना डालते हैं कि यह भिण्ड मेरा गांव है। जरा और दूर गये, दूसरे प्रान्त में पहुंच गये, आपका कौन सा प्रान्त है? हमारा मध्य प्रदेश है। और दूर पहुंच गये, मानो विलायत में पहुंच गए। आपका कौन सा देश है? हमारा हिन्दुस्तान देश है। तो प्रयोजनवश व्यवहार में बोला जाता है, पर वस्तुतः कोई परमाणुमात्र भी द्रव्य मेरा नहीं है।

मोह में उदारता व अनुदारता—भैया ! पहिले समय में था इतना गौरव कि गांव की ही लड़की कहीं ब्याही हो और उस बिरादरी का न हो तो भी उस गांव में पानी न पीवें किसी के घर का। कि अरे इसमें फलाने की लड़की ब्याही है। कितनी आत्मीयता थी, तो आत्मीयता तो बुरी

चीज है ? तो आज अच्छा हो गया जमाना कि भाई की भी लड़की हो तो भी गौरव नहीं है। भाई की लड़की है हमारी नहीं है तो तब था मनुष्य का उदार दृष्टिकोण, आज है उसका एक संकुचित दृष्टिकोण। बोला जाता है सब व्यवहार में। यह सब मोह का प्रताप है और उस मोह के प्रताप में सब ग्रस्त हैं। सो कोई किसी को बुरा नहीं कहता। सब सबको भला देखते हैं।

चतुराई का भ्रम—भैया ! जो जितनी चतुराई खेले, जितना धनी बन जाय, राज्य की सरकार में अपनी पैठ जमा ले, जो चतुराई की बातें करे उसे लोक में चतुर बोलते हैं। और कोई सीधा सादा सत्यता पर डटा हो, अपने आत्महित की दृष्टि में रहता है, वह लोक की दृष्टि में कम अक्ल वाला है। यों बताया जाता है। पर किसी की परवाह क्या करना ? अपना आनन्द जिसमें होता हो वही काम करना है। खूब देख लो, स्वाधीन ध्रुव आनन्द जिस पद में मिले उस पद का यत्न करना चाहिए। तो दृष्टांत में बताया गया है कि कोई पुरुष ग्राम को, देश को, नगर को और राष्ट्र को कहता है कि मेरा है, पर वास्तव में वे तो सब राज्य के हैं, हमारे नहीं हैं। यह तो केवल मोह से ही कह रहा है कि यह मेरा हैं।

ग्राम नगरादिक का विश्लेषण—ग्राम किसे कहते हैं? जो झाड़ियों से घिरा हो। जैसे छोटा गांव देखा होगा कि पास में ही झाड़िया लगी हैं, कांटे लगे हैं, पास ही चारों ओर से खलिहान लगा है, वास्तव में छोटी सी बाउण्डरी से घिरा हो, झाड़ियों से ढका हो उसे गांव बोलते हैं। और देश वह कहलाता है जिसमें अनेक गांव होते हैं अथवा जिसमें अनेक गांव समा जाते हैं वह देश कहलाता है। नगर वह जिसमें सभ्य नागरिक रहते हैं और राष्ट्र सब देशों का जो समूह है वह राष्ट्र कहलाता है। इन सबको यह मोही जीव मोह में कहता है कि मेरा है, किन्तु है नहीं, ऐसा बताकर अब दृष्टांत कहते हैं।

एमेव मिच्छदिट्ठी णाणी णिसंसयं हवदि एसो।

जो परदव्वं मम इदि जाणंतो अप्पयं कुणदि।।३२६।।

मिथ्यादृष्टि के अनंग का अंगीकरण—इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जो पुरुष होता है वह ऐसा ही जानकार होता है जैसा कि दृष्टांत में बताया है जो परद्रव्य को यह मेरा है ऐसा अपना बनाता है वह ज्ञानी, वह आत्मा मिथ्यादृष्टि होता है। कहते हैं ना अंगीकार करना, स्वीकार करना। अंगीकार का अर्थ है कि जो अंग नहीं हैं उसको अंगरूप बनाना। जो मेरा अवयव नहीं है, मेरा

देह नहीं है, मुझसे भिन्न है उसको अपना अंग बना लेना उसका नाम है अंगीकार। और स्वीकार का अर्थ है, जो स्व नहीं है उसको स्व करना। स्व की कल्पना करना, इसका नाम है स्वीकार। तो यह ज्ञानी पदार्थ अर्थात् आत्मा सबसे निराला पदार्थ है, वह परद्रव्यों का कर्ता नहीं है, किन्तु विकल्प करता है कि यह मेरा है। वस्तुतः परमाणु मात्र भी इसका नहीं है। मोटे रूप में सब दिखता भी है, जो होता कुछ तो साथ ले जाते ना मरने पर। तो मरने पर तो यह देह तक को भी नहीं ले जाता है।

मोही का हाल—कल एक भाई बता रहा था कि हम लोग ऐसे हैं कि जिन्दा भी घर नहीं छोड़ते और मरकर भी घर नहीं छोड़ना चाहते। जब हम मरकर भी घर नहीं छोड़ना चाहते तो कुटुम्बी लोग हमको बांधकर मरघट ले जाते हैं, कि तू मरकर भी नहीं घर छोड़ना चाहता है। जिन्दा नहीं छोड़ा न सही, पर तू मरकर भी घर नहीं छोड़ता। यह बात है। जिन्दा में तो कुछ थोड़ा सा ख्याल भी कर लिया जाता है, इसलिए बोल देते हैं कि हम घर छोड़े देते हैं। यह चाहे मात्र स्त्री को डराने भर के लिए हो। कहते हैं कि अब हम होते हैं विरक्त, पर मरने पर भी यह घर नहीं छोड़ना चाहता है तो लोग इसे जबरदस्ती घसीट कर बांधकर ले जाते हैं। यह एक कवि का अलंकार है।

आत्मवैभव की दृष्टि—भैया ! ये सुख दुःख क्या चीज हैं? जहां अपने को माना कि मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानानन्दमात्र हूँ। मुझमें किसी का भार नहीं है। दूसरे का उदय जैसा है उसके अनुसार उनकी बात चलती हैं। मैं तो एक ज्ञानानन्दस्वाभावी हूँ, अपने में परिणमने वाला हूँ। हिम्मत करे कोई ऐसी। अपने आप को अकिंचन सुरक्षित माने, अपने को अपना ले तो कोई संकट नहीं रह सकता। २४ घंटे में कुछ क्षण तो अपनी ऐसी दृष्टि रखनी चाहिए, अन्यथा रात दिन की बेचैनी व अज्ञानता बढ़ाते जावोगे और फिर अपनी सावधानी का कोई अवसर न पावोगे। यह मंदिर का आना और सामायिक का करना आदि ऐसा ध्यान बनाने के लिए ही है, ऐसा ध्यान बने कि मेरा कहीं कुछ नहीं है। मैं तो ज्ञानानन्द के अनन्त वैभव से भरपूर हूँ।

निर्भरता के दर्शन का यत्न—भैया ! किसका भार मानते हो सब जीवों का अपना-अपना उदय है। पुत्र कुपूत तो क्यों धन संचै, पुत्र सुपूत तो क्यों धन संचै। और धन वाली बात तो बड़ी बेढव बात है। आज क्या है और कल क्या हो जायेगा ? लोग अपने पुत्र पौत्रों के ख्याल से धन

का संचय बनाते हैं। यदि पुत्र कुपूत बन जाय तो आप कितना ही धन जोड़ लें, वह चंद दिनों में ही बरबाद कर देगा। और पुत्र सपूत है तो तुम धन संचय न भी करो तो भी उसका पुण्य पिता उसका बुद्धिबल उसका सहाय होगा और वह कमाई कर लेगा। सबका अपना अपना भाग्य लगा है, कोई किसी के भाग्य का अधिकारी नहीं है।

दो फूल साथ फूले किस्मत जुदी जुदी है—दो भाई हैं, एक भाई कुछ बनता है, एक भाई कुछ बन जाता है। दो फूल एक साथ फूले किन्तु उनकी किस्मत जुदी-जुदी है। एक तो वहीं नीचे पड़कर सड़ जाता है और एक बड़े पुरुषों के गले में शोभा देता है। दोनों एक एक फूल एक पेड़ में फूले, मगर उनका जुदा-जुदा भाग्य । यह तो पुण्य की कोई बात नहीं है कि फूल अगर गले में पड़ गया तो उसके पुण्य का उदय है। उनका पुण्य पाप उनके अनुभव के अनुसार होता है और वहां देखो तो पुण्य के उदय तो प्रायः दुःख देने के लिए आते हैं। गुलाब के फूलों को देखो तोड़ लिए जाते हैं। नीले-नीले रंग के फूल जो खेतों में खड़े रहते हैं उन्हें कोई सूँघता नहीं, क्योंकि गुलाब के फूल के पुण्य का उदय है, सो वह असमय में ही तोड़ लिया जाता है, और वे नीले नाक के आकार के जो फूल हैं उन्हें कोई देखता भी नहीं है। तो क्या पुण्य और क्या पाप? अपना भाव संभाला हुआ है तो उसमें हित है और अपना वर्तमान भाव गिरा हुआ है तब उसमें अहित है।

विपरीत आशय—अज्ञानी जन ही व्यवहार में विशेष मोही बनकर परद्रव्यों को 'यह मेरा है' इस प्रकार देखते हैं परन्तु ज्ञानी जीव जो कि निश्चय स्वरूप के दर्शन से प्रतिबद्ध हुए हैं वे परद्रव्य के एक अणुमात्र को भी 'मेरा है' इस प्रकार नहीं देखते हैं, इस कारण जैसे यहां लोक में कोई व्यवहार में विमूढ हुआ पुरुष जो राज्य के याने पर के गांव में रहने वाला है वह इस प्रकार अपना विश्वास करता है कि यह मेरा ग्राम है तो ऐसा देखता हुआ वह मिथ्यादृष्टि वाला है। इस ही प्रकार यदि ज्ञानी भी किसी प्रकार व्यवहार में विमूढ होकर परद्रव्यों को 'यह मेरा है' इस प्रकार देखे तो वह भी चूँकि निःशंक होकर परद्रव्य को आत्मरूप किए है इस कारण मिथ्यादृष्टि होता है। जो पर को निज जाने और निज की खबर ही न रखे वही जीव मिथ्या आशय में आता है। इस कारण इस तत्त्व को जानता हुआ पुरुष सबको ही यह परद्रव्य है, मेरा नहीं है, ऐसा जानकर, लौकिक और श्रवण दोनों में ही जो परद्रव्य में कर्तृत्व का व्यवसाय होता है वह उनके सम्यग्दर्शन रहित होने के कारण होता है, ऐसा निश्चय करो।

वस्तु की स्वचतुष्टयमयता—जो पदार्थ जैसा है, जितना है उतना न समझकर अधिक समझना, कम समझना सो तो विपरीत आशय है। प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूप है, स्वकीय द्रव्य क्षेत्र काल भाव का कोई पदार्थ उल्लंघन नहीं करता। जैसे यहीं देख लो, चौकी है, तो यह अपने गुण पिण्ड में ही है, इसका जितना विस्तार है उतने में ही है। इसका जो वर्तमान परिणमन है उसमें ही है और जो इसकी शक्ति खासियत है उतने में ही है।

देखो, यह प्रकाश किसका—अच्छा यहां जल रही बिजली का लट्टू बतावो कितना बड़ा है? होगा कोई चार छः अंगुल का गोल। इसके भीतर जो तार जल रहे हैं, जितने पतले तार हैं, उतनी ही बड़ी है यह बिजली। उससे बड़ी नहीं है। तो अपना तार मात्र जो यह प्रकाशक बिजली है इसका द्रव्य कितना हुआ ? जितना कि वह तार है, जगमग करता हुआ, जलता हुआ तार मात्र ही है, लट्टू है। इसका विस्तार कितना है ? जितना जलते हुए तारों का विस्तार है और परिणमन उन तारों का ही है और उसकी शक्ति उसकी खासियत उन तारों में ही है। ध्यान में आया। और यह जो इतना प्रकाश फैला है यह किसका है? यह प्रकाश जो फैला है चौकी पर वह बिजली का नहीं है, इस पुस्तक पर जो प्रकाश है वह प्रकाश पुस्तक का है, बिजली का नहीं है क्योंकि अभी तो तुमने कहा था कि जितना तार है बस उतनी भर बिजली है। उसकी सब चीजें बस तार भर में रह गयीं। तार से आगे उसका कुछ नहीं है। तार से आगे उसका स्पर्श नहीं है, रूप नहीं है, गंध नहीं है, प्रकाश नहीं है। फिर यह प्रकाश किसका है? जिस चीज पर प्रकाश है उस की चीज का प्रकाश है।

बतावो यह लम्बी जगमग और वह छाया किसकी—इस प्रकाशक का निमित्त पाकर यह वृक्ष भी प्रकाशित हो गया, यह जो आपके सामने शीशम का पेड़ है प्रकाशित है और शीशम के पेड़ और बिजली के बीच में प्रकाश नहीं है और यदि है प्रकाश तो वह रास्ते में जो सूक्ष्म पुद्गल मीटर पड़े हुए हैं उनके हैं। कुछ अजब सा न मानना, अभी सब बातें सामने आयगी। इस माइक को देखो उस वृक्ष पर छाया है। दिख रही है ना, तो वह जो छाया है वह किसकी है? यह माइक की है ना। इसका प्रकाश कितना है जितना कि यह माइक का डंडा है। लगभग तीन फिट और इसका क्षेत्र कितना है? उतना है। इसका प्रदेश पर्याय प्रभाव सब उतने में ही हैं जितने में यह डंडा है और इसकी खासियत विशेषता गुण शक्ति उतने में ही है जितने में यह डंडा फैला हुआ है। तो इस डंडे की और माइक की कुछ चीज बाहर नहीं है क्या ? कुछ नहीं है। और यह छाया?

यह छाया उस वृक्ष की ही है अथवा पत्रों की ही है जो अँधेरा रूप परिणम रहे हैं। बात यह हुई कि इस माइक का निमित्त पाकर वे पत्ते छायारूप बन गए हैं, सो चूँकि निमित्त पाकर ही बन पाये हैं इस कारण व्यवहार में उसे माइक की छाया कहते हैं।

कर्तृकर्मत्वभ्रमबुद्धि का मूल में मूल बेचारा निमित्तनैमित्तिक भाव—इसी तरह यह जो प्रकाश फैला है तो यह प्रकाश इस बिजली का निमित्त पाकर फैला है। इसलिए लोग इसे बिजली का ही प्रकाश बताते हैं, पर प्रत्येक द्रव्य अपने ही द्रव्य क्षेत्र काल भाव में है। हम आपको कुछ गाली के शब्द बोल दें और आप गुस्सा हो जाए तो बतावो यह गुस्सा किसका है ? तो व्यवहार विमूढ कहेंगे कि यह गुस्सा गाली देने वाले का है। यह गुस्सा गाली देने वाले ने कराया है। गाली देने वाला जितना है उतने को देखिये। गाली देने वाले की सब बातें द्रव्य गुण पर्यायें द्रव्य क्षेत्र काल भाव इस गाली देने वाले में ही समाया हुआ है, उससे बाहर नहीं है। हुआ क्या, गाली देने वाले का निमित्त पाकर इसका क्रोध परिणमन हुआ है सो कर्ता कर्म का जो जगत में भ्रम फैला है उसका कुछ मूल नींव बन सकता है तो निमित्तनैमित्तिक सम्बंध बन सकता है। किसी बात से यह बड़ा भ्रम बढे, वह बात है निमित्तनैमित्तिक भाव।

रागद्वेष के नशे में सुध की विसर—समस्त परद्रव्य स्वतंत्र हैं। वे अपने अपने स्वरूप में रहते हैं। किसी का कोई कुछ नहीं लगता। जब रिश्तेदारों से आपस में झगडा हो जाता है तो कहते हैं कि यह रिश्तेदार हमारा नहीं हैं। होगा कोई। जब भाई भाई में बिगड जाती हैं तो कहते हैं कि यह हमारा भाई नहीं है, हम तो अकेले ही हैं। तो बिगाड पर तनिक सुध आती है। सो सुध नहीं आती। पहिले राग के नशे में बोलता था, अब द्वेष के नशे में बोलता है। सुध अभी नहीं आयी।

सम्यक्परिज्ञान के मोहविनाश की साधकता—भैया ! यथार्थ ज्ञान ही मोह को मिटाता है। भगवान की भक्ति में भी मोह को दूर करने की साक्षात् शक्ति नहीं है। प्रभु का अनुराग भी अब हमें अपने स्वरूप की याद दिलाकर मोह मिटाने में कारण बना तो यह इन्डायरेक्ट हुआ, पर भक्तिरूप परिणाम अनुरागरूप परिणाम मोह को मिटाने वाला साक्षात् नहीं होता। मोह को मिटाने वाला भेदविज्ञान ही होता है। हम आदर्शरूप भगवान की स्वच्छता का स्मरण करके कर्म और रागादिक विभावों से पृथक् अपने आपके आत्मस्वरूप का स्मरण करते हैं और मोक्षमार्ग में बढ़ते हैं। इसको मार्ग में ले जाने वाला हमारा ज्ञायकस्वरूप है।

बुद्धिशब्दार्थात्मकता—भैया ! देखो तीन तरह की बातें होती हैं—शब्द अर्थ और ज्ञान। जैसे

चौकी तीन तरह की है—शब्द चौकी, अर्थ चौकी और ज्ञान चौकी। थोड़ा दार्शनिक विषय हैं, सावधानी से सुनने पर सब समझ में आता है। अपनी बात समझ में न आए और सोना, चाँदी, कपड़ा, पैसा, इनकी बातें समझ में आए यह तो हम नहीं मानते। सोना चाँदी कपड़े की समझ में भी आपकी ही समझ आपमें रही है। उस जड़ पदार्थ से समझ निकलकर आपमें नहीं आती है। अपने निज तत्त्व की पहिचान तो समझ में यों जल्दी आनी चाहिए कि यह ज्ञान और ज्ञेय दोनों निकट हैं। वहां तो ज्ञान से ज्ञेय दूर है। तीन प्रकार चीजें है। शब्द चौकी क्या ? चौ और की। लिख दिया हाथ से चौ की। क्या हुई चौकी। कागज पर लिखकर आपसे कहेंगे कि यह क्या है ? तो आप क्या कहेंगे? चौकी। अरे चौकी है यह तो इस पर थाली धरकर खा लो। क्योंकि भोजन के लिए तुम्हें चौकी चाहिए थी सो तुम्हें दे दिया। अरे तो यह शब्द चौकी है, यह काम न आयेगी। आपका दूध चाहिए तो दूध कहां से निकलता है ? गाय से। गाय शब्द को कागज पर लिख दिया, गा य और आपसे कहें कि अच्छा इस गाय से दूध निकालो, तो क्या उस गाय से दूध निकालकर पी लगे ? नहीं। क्यों ? यों कि उसमें अर्थ क्रिया न होगी क्योंकि वह शब्दरूप है और अर्थचौकी यही है जिस पर काम होता है। अर्थगाय वही है जो चार टाँगे वाली हैं, उससे दूध निकालो और पियो। तो यह अर्थरूप हुआ और ज्ञान चौकी—इस चौकी के बारे में जो हमको समझ बन रही है वह समझ है ज्ञानचौकी।

जीव में किस चौकी का अनुभव—अब परमार्थ से यह बतावो कि हम शब्दचौकी में घुले मिले हैं या अर्थचौकी में घुले मिले हैं, या ज्ञान चौकी में घुले मिले हैं ? शब्दचौकी में तो नहीं मिले हैं, अर्थचौकी में भी नहीं मिल सकते, परद्रव्य है, उसका मुझमें अत्यन्ताभाव है। हां ज्ञानचौकी में उस काल में हम मिले जुले हैं। तो हम पर जो कुछ प्रभाव होगा, तरंग होगी वह ज्ञानचौकी के कारण होगी। शब्दचौकी या अर्थचौकी के कारण न होगी।

बेटा की त्रियता—बेटे भी तीन हैं जिसके तीन बेटे हों उनको नहीं कह रहे हैं (हंसी)। शब्द बेटा अर्थ बेटा और ज्ञानबेटा। एक कागज पर लिख दें-बे और टा और आपसे कहें कि यह क्या है? आप कहेंगे बेटा। जैसे एक कागज पर लिख दिया कि हम मूरख हैं, पढ़े नहीं हैं। और ७-८ क्लास वाले लड़कों से पढ़ावें कि पढ़ो, इसे पढ़ना है तो वह पढ़ता है कि हम मूरख हैं पढ़े नहीं हैं।.... अरे तो पढ़ तो।..... हम मूरख हैं पढ़े नहीं हैं। अरे भाई पढ़ा तो वही जो लिखा है। तो शब्द बेटा तो आपके काम में नहीं आ सकता। बूढ़े हो जाए तो लाठी पकड़कर ले जाय, यह काम तो शब्द बेटा न कर सकेगा। प्यास लगी हो तो गिलास ले आए, पानी पिला दे, यह काम शब्द बेटा

नहीं कर सकता और अर्थ बेटा, मायने जिसके दो टाँग हैं, जो घर में रहता है या यहां बैठा है वह है अर्थ बेटा मायने पदार्थभूत। सो कर्म भी आपसे अत्यंत जुदा हैं । उसके परिणामन से आपमें कुछ नहीं होता है। ज्ञानबेटा क्या ? उस बेटा के सम्बंध में जो आपका विकल्प बन रहा है वह विकल्प है ज्ञानबेटा। आप राग कर रहे हो तो ज्ञानबेटा में कर रहे हो, न अर्थबेटा में राग करते हो, न शब्द बेटा में करते हो।

नाम के विकल्प का राग—जो लोग भीत बना देते हैं और वहां नाम खुदा देते हैं। भीत जानते हो किसे कहते हैं? भींच करके जिसमें ईंटें लगायी जाती हैं उसे भीत कहते हैं। अब नाम खुदा दिया तो वह नाम का राग करता है। क्या वह उन शब्दों में राग करता है? शब्दों में राग कर ही नहीं सकता है, किन्तु उन शब्दों के सहारे जो अपने आपमें विकल्प बने हैं उन विकल्पों में राग मच रहा है। हम आप अपने से बाहर कहीं भी कुछ नहीं कर सकते। व्यवहार विमूढ पुरुष परद्रव्यों को मेरा है इस प्रकार देखता है, किन्तु जो प्रतिबुद्ध है, वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानता है वह परद्रव्यों को मेरा है ऐसा नहीं कहता है।

चोरी—चोर किसे कहते हैं? जो परवस्तु को अपनी मान ले सो चोर है। जो लोग चोरी करते हैं, दूसरों के घर से चीज उठाकर अपने घर में धर लेते हैं उन्होंने क्या किया ? चीज तो छू ही नहीं सकते, चीज उठा ही नहीं सकते, चीज धर ही नहीं सकते। यह तो निमित्तनैमित्तिक भाव में हो रहा है। तब क्या किया उन चोरों ने ? पर की चीज को यह मेरी हो गयी अब ऐसी उनमें मान्यता आ गयी, इस कारण वह जीव चोर है।

चोरी का अव्यपदेश—पर-चीज में जिसके अपनी मान्यता न बने तो चोर नहीं है। जैसे हम और आप बैठे-बैठे बातें कर रहे हैं। बातें करते करते में यों ही बिना ही ख्याल के जैसे कि अनुभाव हो जाता है, आपकी जेब में से फौन्टिन पैन निकाल लें और बातें करते जा रहे हैं, फौन्टिन पैन लटकाते जा रहे हैं, आपसे बातें करते जा रहे हैं, बात जब पूरी हो गयी तो आप अपने घर चले गये। हम अपने स्थान लौट आए। फौन्टिन पैन मेरे ही पास रह गया। ऐसी स्थिति में शायद आप हमें चोर न कहेंगे, क्योंकि उस फौन्टिन पैन में यह मेरी हो गयी, ऐसा मैंने न भाव किया और न आप समझ रहे हैं।

चोरी का व्यपदेश—भैया ! एक फौन्टिन पैन को देखकर क्योंकि बढ़िया खरीदा है, मन में विकल्प आ जाय कि यह तो मेरी जेब में आ जाना चाहिए तो वह चोर हो गया, परद्रव्य को

अपनाने का विकल्प करले और पीछे से बैठकर धीरे से फौन्टिन पैन निकाल रहे हैं। इतने में आप सचेत हो गए तो हम कहेंगे कि हम तो आपकी परीक्षा कर रहे थे कि आप जान पाते हैं या नहीं। अगर निकल आने पर आप जान न पाते तो हमारी हो ही जाती, नहीं तो आपकी परीक्षा का बहाना आपके पास है। तो अन्दर में परद्रव्यों को अपना बना लेने का परिणाम जिनके जगता है वे सब चोर हैं। अब यों देखो कि चोरों की कितनी संख्या है? मेरी कमीज, मेरी धोती, मेरा लड़का, मेरी लड़की, ये परद्रव्यों को अपनाने के ही अन्तर में विकल्प हैं। तो परमार्थ से तो चोर हैं ही। साधुता तो वह है कि अच्छे व्यवहार में रहकर अन्तर में ऐसी सावधानी हो कि हैं सब भिन्न भिन्न। मेरा जगत में कहीं कुछ नहीं है।

पर के कर्तृत्व का अनवकाश—किसी भी एक वस्तु का किसी भी अन्य वस्तु के साथ सम्बंध सर्व प्रकार से निषिद्ध किया गया है। जब वस्तु भिन्न भिन्न हैं तो उनमें कर्ता कर्म की घटना नहीं हो सकती। इस कारण हे लौकिक जनों और ऐ श्रमणों आत्मावो ! तुम अपने आपको अकर्ता ही देखो। देखो धर्म की बात इस व्यावहारिक जीवन में कुछ न उतरे तो उससे शांति नहीं आ सकती। प्रथम तो आजीविका के साधनों में भी इतनी आसक्ति और अनुरागता नहीं होनी चाहिए कि चाहे किसी को कष्ट पहुँचे, अलाभ मिले या कुछ हानि होती हो तो उसमें विवाद कर उठे, क्लेश मानें ऐसा आजीविका के साधनों तक में भी निज और पर का अधिक भेद न होना चाहिए और फिर धर्म की किसी बात में ही यदि निज और पर का भेद बना ले जायें कि यह मेरी संस्था है, यह उनकी है, ऐसा विसंवाद यदि है तो आप ही सोच लो कि धर्मपालन के निमित्त अपनी व्यवहारिकता कितनी बनायी ?

भेदविज्ञान के प्रायोगिक रूप की आवश्यकता—मंदिर में खूब विनती कर आए, भक्ति की, पूजा की और मंदिर से निकलते ही किसी भिखारी ने कुछ माँग दिया तो वहीं नाराज होने लगे। उसको दुदकारने लगे। इस मंदिर में घंटे भर रहते थे तो उसका असर १ मिनट को भी नहीं होता क्या ? हमें जगत को असार जानकर अपनी उदारता का उपयोग करना चाहिए। किस को अपना मानना है ? किससे अपना हित हो सकता है? सर्व परद्रव्य हैं। यदि यह किसी के उपयोग में आता है तो खुशी होनी चाहिए। आने दो उपभोग को, विनाशीक पदार्थों से यदि किसी अविनाशी तत्त्व का भला होता है तो उसमें क्या है ? सो परद्रव्यों को 'यह मेरा है' ऐसा अन्तर में भ्रम न रखना चाहिए।

जब एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ किसी प्रकार का सम्बंध नहीं है तब ज्ञानी जीव

कैसा निर्णय रखता है? इस बात को अब कुन्दकुन्दाचार्य देव कह रहे हैं।

तम्हा ण मेत्ति णच्चा दोण्ह वि एदाण कत्तविवसायं।

परदव्वे जाणंतो जाणिज्जो दिट्ठिरहिदाणं।।३२७।।

लौकिक पुरुष और लोकश्रमणों के विपाक की समानता—इस कारण ज्ञानी जीव परद्रव्य मेरे हैं, ऐसा न जानकर अथवा परद्रव्य मेरे नहीं हैं ऐसा जानकर परस्पर में दोनों पुरुषों के लौकिक और एक श्रमण दोनों में देखो कैसा कर्तृत्व व्यवसाय चल रहा है, ऐसा जानते हुए वह जानता है कि ये दोनों सम्यग्दर्शन से रहित हैं। दो पुरुषों की बातें चल रही हैं—एक लौकिक जन और श्रमणजन। जो गृह त्याग कर अध्यात्मयोग के साधने के भाव से निर्ग्रन्थ और निरारम्भ हुए हैं, किंतु सिद्धान्त के सम्बंध में यह आशय बना लिया है कि सुख दुःख का पुण्य पाप सबका करने वाला यह मैं आत्मा ही हूँ। इन दोनों पुरुषों से जो अपराध हो रहा है उसे ये दोनों नहीं जान रहे हैं। उसे तीसरा ही समझ सकता है जो कि परमार्थवित् है।

त्रुटिकर्ता के त्रुटि की असूझ—दो पुरुष आपस में लड़े तो वे दोनों यथार्थ गलती नहीं समझ सकते कि वास्तव में गलती किसकी है, किंतु तीसरा पुरुष जो पास से ही सब कुछ देख रहा है, वह समझता है कि इसमें गलती किसकी है। इसी तरह ये समस्त श्रमण और लौकिक जन भी होते हैं, फिर भी जिन्हें वस्तु का स्वच्छ स्वरूप नहीं दिख रहा है। यह मैं आत्मा स्वरसतः ज्ञायकस्वभावी हूँ। इस मुझ आत्मतत्त्व में किसी परभाव को कर्तृत्व का स्वभाव नहीं पड़ा है। शुद्ध जाननमात्र हूँ यह दृष्टि तो लौकिक पुरुषों में नहीं रही, क्योंकि उन्होंने तो अपना अस्तित्व ही खो दिया है। मेरे सब भावों का करने वाला प्रभु है, विष्णु है परमात्मा है, व्यापक कोई एक आत्मतत्त्व है। सो उस ओर ही दृष्टि हो गयी। और ये श्रमणजन भी स्वरसतः अपना घात कर लेते हैं। वे तो यह विश्वास लिए बैठे हैं कि मैं राग करने के स्वभाव वाला हूँ, राग करता हूँ। यों रागस्वभाव में तन्मय अपने को मानने वाला श्रमण भी दृष्टि रहित है।

अन्यथा कल्पना के क्लेश—भैया ! आनन्द का उपाय जैसा कुछ तत्त्व है वैसा जान लेना इतना भर है। लोग दुःखी क्यों हैं ? है विनाशीक समागम और मानते हैं अविनाशी। सो विनाश होते समय उन्हें बड़ा क्लेश होता है। हैं वियोग होने वाली चीजें और मान रखा है कि इनका मुझसे वियोग न होगा, तो वियोग होते समय क्लेश होते हैं। गुरु जी सुनाते थे कि एक गणित के

प्रोफेसर थे, सो उन्हें स्त्री से बड़ा अनुराग था। जगत में केवल उसे एक वही इष्टतम थी। सो स्त्री बहुत समझायें कि तुम्हें इतना अनुराग न करना चाहिए, यदि हम मर जायेंगी तो तुम पागल हो जावोगे। न माना। स्त्री मर गयी और गणित के प्रोफेसर की क्या हालत हुई कि स्त्री की बहुत अच्छी फोटो बनवा ली थी। यह बनारस का जिकर है। बाईजी भी वहीं ठहरी हुई थीं और महाराज भी ठहरे थे। तो वह अपने कमरे में बैठा हुआ गणित का प्रोफेसर उसी फोटो से कहता है कि अब हमें भूख लग गयी है, अभी रोटी न बनावोगी। अरे अब बहुत दिन चढ़ आया है, नहा धोकर मन्दिर जावो, कब रोटी बनावोगी ? ऐसी ही कई बातें उस प्रोफेसर ने उस फोटो से कहीं। तो बाईजी ने उसे बुलाया और कहा कि भाई तुम किससे यह सब कुछ कह रहे हो ? तुम तो अकेले ही इस कमरे में ठहरे हो। वह प्रोफेसर बोला कि हम अपनी स्त्री से कह रहे हैं। कहाँ है स्त्री ? फोटो दिखा दिया। यह है स्त्री। कहा कि यह तो फोटो है। इसमें कागज और स्याही है। तो प्रोफेसर कहता है कि माँ इतनी बात तो हम भी जानते हैं कि यह कागज और स्याही है, मगर वियोगजन्य वेदना इतनी तीव्र है कि बात किए बिना रहा नहीं जाता।

यथार्थज्ञान से क्लेश का अभाव—सो ये परद्रव्य वियुक्त होने वाले हैं। हम अभी से ऐसा मान लें कि इनका वियोग अवश्य होगा, इनमें हर्ष न करना चाहिए और न मानेंगे तो फिर दुर्दशा भोगों। एक सेठ थे, वह किसी अपराध में जेलखाने में चले गए। उन्हें वहाँ सी क्लास मिली, चक्की पीसने का काम मिला। घर में कभी चक्की पीसी हो तो संक्लेश न हो ज्यादा। मगर कभी चक्की न पीसी थी सो उसे चक्की पीसने में बड़ा क्लेश हुआ। न पीसे तो कोड़े लगें। बड़ा रईस आदमी था वह, सो उसके दुःख को देखकर एक गरीब कैदी को दया आ गयी। तो सेठजी से वह गरीब कैदी पूछता है, क्यों रोते हो भाई ! तो वह बोलता है कि कहाँ तो हम गद्दी पर बैठते थे, तमाम नौकर चाकर लगे हुए थे, अब हमें ऐसा करना पड़ रहा है, तो वह कैदी समझाता है कि यह तो जेलखाना है, ससुराल नहीं है जो पकवान मिले और बढ़िया पलंग मिले। सो अपना दिमाग ठिकाने ले आवो, घर की बातें दिमाग में न रखो। तुम यह जानो कि हम कैद में पड़े हुए हैं। सो ऐसा क्लेश करने का काम ही नहीं है। उसकी समझ में आ गया, लो दुःख कम हो गया।

सीधा मार्ग—भैया ! यह सारा जगत् अपने से अत्यन्त भिन्न है। परपदार्थों का ध्यान करके कभी सुखशांति मिल ही नहीं सकती। किसी को बता दें। यदि श्रद्धान है तो शांति का मार्ग मिलेगा और वस्तुतत्त्व का श्रद्धान नहीं है तो भाई कितना ही कुछ वैभव बढ़ालो, जितना ही वैभव बढ़ेगा उतना ही अधिक समय आने पर क्लेश बढ़ेगा। यह मोही जीवों की बात कही जा

रही है। इसलिए जैसा यथार्थ वस्तुस्वरूप है वैसा ही विश्वास करो। एक बात के विश्वास पर तो डट जावो। किसी क्षण तो अपने ज्ञानानन्द ज्योतिस्वरूप के दर्शन करो। यदि ऐसा कर सके तो यह मार्ग आपको शांति प्रदान करेगा और बाहर में तृष्णा करना और उसमें ही लुब्ध रहना, यह तो लाभ न देगा। अपने आत्मतत्त्व का विश्वास कीजिए।

विश्वास का फल—दो भाई थे तो नौकरी करने चले। तो निकल गए ५०, ६० कोस। जंगल में एक सांड मिला। छोटा भाई बोला कि भाई हम तो इस सांड की नौकरी करेंगे। वह साँड बड़ा सुन्दर था। हष्ट पुष्ट था जिसका कंधा बड़ा ऊँचा था और सींगे बड़ी सुहावनी बनी हुई थीं। बोला कि हम तो इस सांड की ही नौकरी करेंगे। मेरा मालिक तो यह सांड ही है। बड़ा भाई बोला कि यह कितना मूर्ख बन रहा है? बहुत मनाया पर वह न माना। वह बोला कि अब तो यह साँड ही हमारा सब कुछ है। बड़ा भाई आगे चला गया। उसे समझो कि कोई २५) रू महीने की नौकरी मिल गयी, सो वह तो करे वहां नौकरी सेठ की। तो कभी यह छोड़ा, कभी वह छोड़ा, इस तरह से ११, ११॥ महीने तक नौकरी की। छोटा भाई सांड की नौकरी करे। अच्छा तो हम तुम्हारी क्या सेवा करें ? हरी घास ले आवो, खूब सेवा करो। शरीर में खूब हाथ फेरों। इस तरह स्वयं ही बोल कर वह अपने सांड मालिक की नौकरी करे। सांड से वह कहता था कि क्या हमारी नौकरी मिलेगी ? तो वह सांड बेचारा क्या बोले, स्वयं ही बोले कि हाँ हाँ मिलेगी इस तरह उसने भी ११, ११॥ महीने उसकी नौकरी की बाद में बड़ा भैया अपनी सब नौकरी लेकर लौटकर आया तो छोटे भैया से कहता है कि अब चलो तुम्हें कुछ नहीं मिला तो न सही, हमको जो मिला है उसमें से आधा दे देंगे। छोटा भाई बोला कि अभी नहीं चलेंगे, अभी साल भर में १५ दिन बाकी है। अभी १५ दिन और मालिक की सेवा करेंगे। सो १४ दिन और व्यतीत हो गए।

अब वह कहता है सांड से कि कल एक साल पूरा हो जायगा, अब हमारी नौकरी दोगे कि नहीं ? तो वह स्वयं कहता है कि हां कल मिलेगी। अब कैसा सुयोग हुआ, अंतिम दिन कि, बहुत से बंजारे बैलों पर कुछ लादे हुए लिए जा रहे थे। नदी का किनारा था। बैल प्यासे थे। सोचा कि इन सब बैलों को पानी पीने भेज दें। बैलों पर लदी थी अशर्फियाँ। तो यह समझो कि वे बंजारे सड़क पर बैठ गए और बैलों को इशारा कर दिया कि जावो पी आवो पानी। सब क्रम-क्रम से आए। सांड उन बैलों की कोख में सींग गोंच दे। सींग के गोंच देने से लाद में छेद हो जाय और जैसा छेद हो जाय उसके अनुसार ही अशर्फियाँ गिर जाए। दूसरा बैल आये तो उसके भी लाद में

सींग गोंच दे, छेद हो जाय तो १०-५ अशर्फियाँ गिर जायें। जो छोटा छेद हो उसमें दो चार अशर्फियाँ गिर जायें और किसी में से १०-२० गिर जायें। अब बैलों को लेकर बंजारे चले गए। छोटे छेद होने से उन्हें कुछ पता न पड़ा। अपने सांड मालिक से बोला कि अब हमें एक साल की नौकरी मिलेगी कि नहीं ? तो स्वयं ही बोला कि अरे यह नौकरी पड़ी तो है, यही तो है साल भर की नौकरी। इस तरह से १ साल की नौकरी लेकर वह अपने घर आया। बड़े भाई ने देखा कि यह तो मालामाल हो गया है, हमें तो कुछ नहीं मिला।

मोहान्धमग्नता का कारण—भैया ! अपन को ऐसा विश्वास हो कि मिलना होगा तो कहीं भी मिलेगा, न मिलना होगा तो कहीं भी न मिलेगा। ऐसे ही विश्वास कर लो कि मिलेगा आनन्द तो आपको अपने आत्मा में ही मिलेगा और न मिलना होगा तो कहीं न मिलेगा। खूब पटक लो जान। जिस चाहे को अपना स्वामी बना लो, मालिक बना लो, सिर पर बैठा लो, जो चाहे कर लो, पर मिलेगा कुछ तो आपको अपने आत्मा में से ही मिलेगा। अन्य जगह से न मिलेगा। प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में बसता है। ऐसा पदार्थ का स्वभाव नियत है। इसे जो नहीं मानते हैं वे मोह अज्ञान में डूब गए हैं, और इसलिए कायर होते हुए नाना प्रकार की अपनी चेष्टाएँ करते हैं।

यथार्थ ज्ञान के अभाव में यथार्थ सिद्धि का अभाव—भैया ! स्वभावविरुद्ध कर्मों को करने से वे भाव ही कर्म हैं ना, बनते हैं, और भाव कर्म का निमित्त पाकर द्रव्य कर्म बनते हैं, उनके उदय का निमित्त पाकर ये भाव कर्म होते हैं और इस लपेट में यह जीव जन्ममरण के दुःख भोगता है। तो जीव यह स्वयं कर्ता बना है, दूसरा नहीं बना है, किंतु ऐसा कर्तापन अपने आपका स्वभाव मान लिया जाय तो यही अज्ञानी जीव हुआ। जो अपने भवितव्य का रागद्वेष सुख-दुःख का कर्ता किसी परजीव या ईश्वर को मानता है वह भी अपने ज्ञानानन्दनिधान ब्रह्मतेज में मग्न नहीं हो सकता और जो अपने आपको ही रागादिक करने का स्वभाव मानता है, मायने आत्मा कर्ता ही है, ऐसे आशय वाला भी अपने ब्रह्मतेज में मग्न नहीं हो सकता।

मोह का उपादान—भैया ! जिसका मोह का उपादान है, उसे परपदार्थों में भी आत्मीय बुद्धि लगी है। ऐसा व्यक्ति धर्म की भी जगह बैठा हो तो, किसी भी जगह पहुंच जाय तो, याद आयेगी वही कनक कामिनी की। एक गडरिये की लड़की थी। गडरिये, जो बकरी पालते हैं। सो उस लड़की की शादी किसी तरह बादशाह से हो गयी। बादशाह ने पसंद किया, सो हो गयी। बादशाह के यहां

लड़की पहुंची। उसे खूब गहनों से सजा दिया, अच्छे गहने अच्छे कपड़े पहिनाए और निवास के लिए एक बड़ा महल दे दिया। तो उसका जो बड़ा हाल था उसमें अनेक चित्र लगे थे, वीरों के, महाराजावों के, संतों के, भगवान के तो उनको देखने में वह लग गयी। तो देखती जाये। एक चित्र उसमें ऐसा था जिसमें दो बकरियां बड़ी सुन्दर बनी थीं। उन्हें देखकर वह बोली टिक-टिक-टिक। बकरियों में रहने वाली मोड़ी बादशाह के घर पहुंच गई, पर वह अपना उपादान कहां फेंक दे? भले ही कपड़ों से सजा दिया, खूब गहने से सजा दिया पर वह करे क्या? तो स्वरूप के अज्ञानी परपदार्थों के मोही भले ही इनको दुपट्टा व मुकुटों से सजा दें, मुकुट पहिना दें, भले ही खूब अभिषेक करें, मगर उपादान मोह का है तो स्त्री की खबर कहां से भूला दें?

मोहियों के मन में उनके इष्ट का फोटो—जैसे कोई लोग एक भगवान की फोटो लिए रहते हैं, छाती पर बाँधे रहते हैं, कभी-कभी ऐसा करते हैं। तो उनका मतलब यह है कि मेरे हृदय में भगवान ही बसे रहें। इसीलिए वे भगवान की फोटो लगाए रहते हैं। वे ऊपर से तो लिए रहते हैं और यह अज्ञानी भीतर से लिए रहता है स्त्री को, पुत्र को, मकान को। सो जब तक मूल में सुधार नहीं होता, परवस्तुओं से भिन्न अपने आपका श्रद्धान नहीं होता तब तक इसे शांति नहीं प्राप्त हो सकती। कर्ता कौन है ? यह में चेतन ही गड़बड़ कर नाना रूप विकल्प और चेष्टाएँ किया करता हूँ। उनके करने वाला और कोई दूसरा नहीं है। ऐसा कोई तीसरा तटस्थ पुरुष जानता है कि यह इतनी कमायी का जो परिश्रम हो रहा है, सो यह निश्चय दृष्टि से रहित है और विकल्पों के फंदे में पड़ करके ऐसी चेष्टा करता है।

आत्मविकासों का आत्मा में निरखना—भैया ! जितने प्रभु के नाम लें और जितने जो प्रभु हुए हैं, ब्रह्मा, महेश्वर, विष्णु, तीर्थकर जितने भी ये महान् आत्मा हुए हैं वे सब आत्मा ही हैं, आत्मरूप ही हैं। कुछ अपने स्वरूप जाति से भिन्न अलग से कोई नहीं हैं। सो उन सब रूपों को अपने आपमें निहारों, इस आत्मा का ही वह सब कुछ रूप है। जैसे पंचपरमेष्ठी की भक्ति करें तो उन पंचपरमपदों को अपने आपके विकास के रूप में देखें तो उससे एक स्फूर्ति मिलती है, क्रान्ति मिलती है, मोह को हटाने का उत्साह जगता है। पर दीन होकर प्रभु की भक्ति में लगे तो अन्तर में उत्साह नहीं जगता। यहां दीनता जगती है कि हे प्रभु ! तुम ही हो मेरे सब कुछ, तुम हमें राखो या मारो। ब्रह्मतेज में मग्न होने का उन्हें उपाय नहीं मिल सकता।

परिणमन की कृति का निर्णय—इससे भैया ! एक निर्णय करो, अपनी परिणतियों के सम्बंध में ये रागद्वेष सुख दुःख आदिक मेरे स्वभाव से भी उत्पन्न नहीं होते, और इनका करने वाला भी कोई दूसरा नहीं है, किंतु किसी भी अनुकूल अन्य उपाधि का निमित्त पाकर मुझ

आत्मभूमि में ये रागद्वेषादिक भाव उत्पन्न होते हैं। इनका होना मेरा स्वभाव नहीं है। इनका करने वाला मैं ही अज्ञान के कारण हूँ, अर्थात् मैं ही परिणमता हूँ, मगर ऐसी कोई चीज स्वभाव में लगी नहीं है। कोई एक दूसरे का कुछ नहीं कर सकता। जैसे यह एक सीधी अंगुलि है, अब टेढ़ी हो गयी तो हम यह कहें कि देखो इस मेरी अंगुलि को इस अंगुलि ने टेढ़ी कर दिया। तो इसका अर्थ क्या है कि एक का एक में करना क्या ? एक दूसरे में कुछ कर सकता नहीं है। फिर करने का नाम जो चल पड़ा है यह व्यवहार की भाषा है।

ज्ञातृत्व के आदर से शांति की सम्भवता—भैया ! निरखते यों जावो। यह पदार्थ है, ऐसा सिद्ध है और ऐसा निमित्त योग पाने पर यह अपने आपमें इस प्रकार से परिणम जाता है। सो जरा पुण्य का उदय आया। थोड़ा कुछ वैभव पास में हो गया तो यह आशय बढ़ाये चले जा रहे हैं कि मैं बड़ा हूँ, महान् हूँ, समझदार हूँ और मैं जो चाहूँ सो कर सकता हूँ, मैं जैसा चाहूँ भोग सकता हूँ, ऐसा अपने आप में आशय बढ़ाये चले जा रहे हैं, पर हे आत्मन् ! तू अपने स्वभाव को तो देख। तू तो केवल ज्ञानज्योति मात्र है। तू असत् परिणमन से हटकर निज के सत् में पहुंच। बाहर में घूमने से तुझे आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती।

सर्वविशुद्ध स्वरूप के परिज्ञान का महत्त्व—इस सर्वविशुद्ध अधिकार में यह बात बतायी गयी है कि प्रत्येक द्रव्य अन्य सर्वद्रव्यों से अत्यंत पृथक् है, सबसे विशुद्ध है। शुद्ध का अर्थ होता है शून्य। जो लेप है, मैल वह न रहे इसे कहते हैं शुद्ध। प्रत्येक पदार्थ शुद्ध है अर्थात् स्वयं के स्वरूप मात्र है। एक शुद्ध होता है पर्याय से शुद्ध और एक शुद्ध रहता है स्वरूप मात्र। स्वरूपमात्र रूप शुद्ध के परिज्ञान की बड़ी महिमा है। जीव ने आज तक अपने को नानारूप माना अर्थात् शुद्ध माना, अशुद्ध को भी अपना सर्वस्वरूप माना, उसके फल में यह संसार भ्रमण चल रहा है। बात साफ इतनी है, जिससे करते बने सो करे और न करते बने अर्थात् न जानते बने तो जो हो रहा है सो हो ही रहा है। पर आनन्द वही पायेगा जो अपना ज्ञान सही रखेगा। वह किसी भी परिस्थिति में दुःखी न होगा।

यथार्थज्ञान से ही वास्तविक महत्ता—भैया ! अपना ज्ञान सही नहीं रख सकते उससे दुःख होता है और उससे ही विडम्बनाएँ होती हैं। बाकी के लेखा जोखा सब लगते रहते हैं। मेरे पास इतनी आय होती है इसलिए कष्ट से हैं, मेरे पास इतना धन नहीं है सो दुःख से हैं अथवा मेरे घर के लोग आज्ञाकारी नहीं हैं सो क्लेश है। ये सारी बातें बकवाद हैं। क्लेश किसी को रंच भी नहीं है। क्लेश तो यह है कि अपना ज्ञान नहीं सही रख पा रहा है। धन से बड़ा माना तो जिसने धन का त्याग कर दिया वह तो अब छोटा हो गया समझें क्या ? क्योंकि धन तो रहा नहीं।

लोक में नगर में रहकर इज्जत पाई, इसका ही यदि बड़प्पन माना जाय तो जब त्याग कर दिया और लोकमत के न रहे यहां की वोटों के बीच के न रहे तो हल्के बन गये क्या ?

असंतोष में दरिद्रता—यहां कौन दरिद्र है और कौन धनवान है? जिसका मन संतुष्ट है वह तो धनिक है और जिसका मन असंतुष्ट है वह दरिद्र है। एक बार एक साधु को रास्ते में एक पैसा मिला, पुराने समय का पैसा क्या आप लोगों ने देखा है ? एक छटांक में चार चढ़ते हैं। कुछ तो बूढ़ों को ख्याल होगा। अगर एक पैसा पीठ में जड़ दें तो टैं बोल जाए। इतना मोटा वह पैसा होता है। तो साधु ने सोचा कि यह पैसा किसे दूं ? सोचा कि दुनिया में जो अधिक से अधिक गरीब हो उसको देंगे। अब गरीब की खोज में वह निकला, पर अधिक गरीब कोई न मिला।

बहुत दिन बाद उस नगर का बादशाह सेना सजाकर एक शत्रु पर चढ़ाई करने जा रहा था। जैसे किसी समय ग्वालियर के राजा ने अटेर पर चढ़ाई की थी। अटेर मायने क्या ? जहां टेर न सुनाई दे। होगा जंगल हमने तो देखा नहीं। अगर कोई टेर लगाए तो दूसरों को न सुनाए। तो वही तो अटेर है। सो ग्वालियर के राजा ने जैसे अटेर पर चढ़ाई की थी इसी प्रकार वह बादशाह किसी छोटे राजा पर चढ़ाई करने चला। सो साधु न पूछा कि बादशाह कहां जा रहे हैं ? पता लगा कि बादशाह दूसरे राजा पर चढ़ाई करने जा रहा है। तो जब सामने से बादशाह निकला हाथी पर चढ़ा हुआ तो उसने वही पैसा बादशाह की नाक में मारा इसलिए कि यह पैसा इसे ही देना चाहिए। सो वह पैसा उसकी गोद में गिरा। वह देखता है कि इस साधु ने मुझे पैसा मारा। पूछा कि यह पैसा क्यों फेंक कर मारा ? साधु बोला कि महाराज हमें यह पैसा मिल गया था सो मैंने सोचा था कि दुनिया में हमें जो सबसे अधिक गरीब दिखेगा उसे ही यह पैसा मैं दूंगा। इसलिए मैंने तुम्हें यह पैसा फेंककर दिया। तो क्या मैं गरीब हूँ। “हां हां।” कैसे ? ऐसे कि यदि आप गरीब न होते तो दूसरे राजा का राज्य हड़पने क्यों जाते ? उसकी समझ में आ गया। ओह ठीक तो कह रहा है। समझ में आ गया और हुक्म दिया सेना को कि अब लौट चलो, लड़ाई नहीं करना है। जो अपने पास है वही बहुत है। तो उस पैसे ने उस बादशाह की गरीबी मिटा दिया। तो लौकिक परिस्थिति से सुख दुःख के फैसला करने की जो आदत पड़ी है यह रात दिन परेशान करती है।

संतोष में समृद्धि—राम लक्ष्मण सीता जंगल में रहे, मिट्टी के बरतन बनाकर उनमें भोजन बनाया खाया , और कितने सुख में वे थे। उन्हें क्लेश था क्या कुछ ? उनके पास धन तो नहीं था। तो जहां संतोष है वहां सुख है, जहां संतोष नहीं है वहां सुख नहीं है। तो बाह्य

परिस्थिति से हम सुख दुःख का फैसला न किया करें किंतु हम पागल हैं तो दुःखी हैं। और सावधान हैं तो सुखी हैं। इतनी ही रहस्य है।

पागलपन—पागलपन किसे कहते हैं ? वैसे तो पागल होना अच्छी बात है। बुरी बात नहीं है। जो पापों को गलाये सो पागल। पा मायने पाप गल मायने गलाने वाला। सो पागल मायने पापों को नष्ट करने वाला। लेकिन लोग पागल का अर्थ लगा बैठे हैं कि जिसका ज्ञान व्यवस्थित न हो, पर की दृष्टि करके जो गले, बरबाद हो, पर से जो आशा करे, हित माने उसे पागल कहते हैं। जो बात जैसी नहीं है वैसी बात बोलकर निश्चय करना उसको पागल कहते हैं। यह आत्मा सर्वविशुद्ध है, इसका कहीं कुछ नहीं है, अकिंचन है। इस अकिंचन की आराधना में तो आनन्द है और अपने को सकिंचन माने तो उसमें क्लेश ही है।

निरपेक्ष भगवद्भक्ति—धनंजयसेठ भगवान की भक्ति में क्या कहते हैं—“इति स्तुतिं देव विधाय दैन्याद्वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि। छायातरुं संश्रयतः स्वतः स्यात्किं छायाया याचितयात्मलाभः।” हे भगवान् ! तुम्हारी स्तुति करके मैं दीनता से आपसे कोई वर नहीं माँगता हूँ। बड़े के बड़े ही मित्र होते हैं। भगवान के भक्त भी शूरवीर उदार गौरवशाली होते हैं। वे भगवान से कुछ नहीं माँगते हैं। इस प्रकार स्तुति करते हैं कि हे देव ! मैं दीनता से आपसे कोई वर नहीं माँगता। अरे सेठ क्यों नहीं माँगते हो ऐसा अगर भगवान का कोई वकील बोल दे तो भक्त कहता है कि क्या माँगें, तुम तो उपेक्षक हो। तुम न देते हो, न लेते हो, न किसी की सुनते हो, न तुम किसी की ओर झुकते हो तुम तो अपने आनन्द में मस्त हो, लीन हो। तुमसे क्या माँगें और फिर एक बात और है कि तुम दे ही क्या सकते हो, तुम्हारे पास धन नहीं, पैसा नहीं, ईंटें नहीं, परमिट के पत्रा नहीं, तुम दे ही क्या सकते हो ? केवल चिन्मात्रस्वरूप हो, तुमसे हम क्या माँगें ?

परमार्थप्रभुभक्त के स्वतः समृद्धि—और फिर प्रभु एक बात और है। कोई मनुष्य छाया वाले पेड़ के नीचे बैठ जाय, जैसे कि आजकल गर्मी के दिन हैं और सड़क के किनारे कोई पेड़ मिल जाय और पेड़ के नीचे बैठ जाय और नीचे बैठे-बैठे एक मंत्र जपे, हाथ जोड़कर विनती करे कि हे पेड़ तू मुझे छाया दे दे, तू मुझे छाया दे दे—ऐसा कोई मुसाफिर करे तो उसे लोग पागल कहेंगे, बेवकूफ कहेंगे। वैसे बेवकूफ होना अच्छा है। बे मायने दो और वकूफ बाकेफियत बुद्धि याने डबल बुद्धि वाले। जैसे बे इन्दी बोलते हैं ना, सो उसके मायने हैं दो इन्द्रिय। पर यहां बेवकूफ मायने पागल के हैं, मूर्ख के हैं। अरे छाया वाले पेड़ के नीचे तो बैठा है और पेड़ से

छाया माँगें, यह कहाँ ठीक है? अरे स्वतः ही छाया हो रही है। अब भौंकने से लाभ क्या है ? इसी तरह नाथ ! आपके जो शुद्धस्वरूप की भक्ति की छाया में बसता है उसको अनाकुलता है, आनन्द है, समृद्धि है। सब कुछ अपने में हो रहा है और फिर कुछ प्रभु से माँगें तो उसे मूढ़ कहना चाहिए।

बड़ों का सम्बंध बड़ी पद्धति में—भैया ! किसी बड़े पुरुष से कुछ माँगो तो छोटी बात मिलेगी, भगवान से यदि कुछ चाहा कि धन बढ़े, पुत्र आज्ञाकारी हों तो फिर कुछ न मिलेगा। अगर उदय है अधिक तो इष्ट समागम थोड़ा हो जायेगा, बस काम खत्म हो गया। तो ऐसा उदारचित्त होना चाहिए कल्याणार्थी को किसी से कुछ न माँगें। जब भगवान आदिनाथ स्वामी विरक्त हो गए थे तो नमि और विनमि इनको कुछ न दे पाये थे औरों को तो सब बांट दिया था। अब नमि और विनमि आए तो आदिनाथ भगवान से कहते हैं जो कि तपस्या में मौन खड़े थे। कहते हैं कि हे प्रभु ! हमें कुछ नहीं दिया, सबको सब कुछ दिया। अरे हमारी तरफ तो देखते भी नहीं हैं, कुछ देते भी नहीं हैं, कुछ सुनते भी नहीं हैं। तो एक देव आया, बोला कि तुम उनसे क्या कहते हो, तुम्हें जो कुछ चाहिए हमसे कहो, हम देंगे तो नमि विनमि कहते हैं कि तुम कौन बीच में दलाल आए ? हमें तुमसे न चाहिए। हमें तो यही देंगे तो लेंगे।

महंत संतों का सत्संग—अरे बड़े की गुस्सा, बड़े का अनुराग, बड़े की डाट, बड़े का संग से सब लाभ ही लाभ हैं। कोई बड़ा कभी नाराज हो जाय तो भी समझो कि मेरे भले के लिए है। बड़ा प्रसन्न हो जाय तो भी समझो कि मेरे भले के लिए है। तो ऐसे बड़े से सम्बंध बनावो कि जिससे बड़ा और कुछ न हो। बड़ा व्यवहार में तो प्रभु है और परमार्थ में स्वकीय सर्व विशुद्ध ज्ञानस्वरूप है। इस ही सर्वविशुद्ध ज्ञान को इस समयसार के अंतिम अधिकार में रखा है। अध्यात्म परिज्ञान का यह मर्मभूत अधिकार है। दो अधिकार तो बड़े खासियत रखने वाले अधिकार हैं समयसार में। एक तो कर्ताकर्म अधिकार जो अज्ञान को लपेटकर चटनी बना देता है और एक है सर्वविशुद्ध अधिकार। जब इसका वर्णन आयेगा तब इसका जौहर देखना। किस-किस प्रकार से यह सर्वविशुद्ध स्वरूप को खोलकर रखता है ?

शास्त्रों के उपदेशों का प्रयोजन—भैया ! इस प्रकरण में अभी तक यह बताया है कि प्रत्येक द्रव्य अपने ही पर्याय से तन्मय होता है। बस इसी सेही समझ जावो सब कुछ कि कोई पदार्थ किसी का नहीं है। कोई पदार्थ किसी का कर्ता नहीं है। कोई पदार्थ किसी का भोक्ता नहीं है। मंत्र बताया है एक कि सर्व पदार्थ अपनी-अपनी परिणति से तन्मय होते हैं। अर्थ निकला कितना विशाल ? कर्तृत्व, भोक्तृत्व, बंध, मोक्ष सर्वप्रकार के विकल्पों से शून्य केवल

ज्ञायकस्वरूप यह मैं आत्मा हूँ। इसका परिज्ञान करने के लिए शास्त्रों की रचना हुई है। सर्वशास्त्रों का प्रयोजन इतना ही है कि सर्व विशुद्ध जो निज का स्वरूप है, विध्यात्मक समझ लो अवक्तव्य जो अनुभव में आ सकने वाला आत्मस्वरूप है उसे जान जावो। इतना ही सर्वशास्त्रों का प्रयोजन है—ऐसा जानकर फिर इसमें स्थिर हो जावो। इसके लिए फिर चरणानुयोग की व्यवहार प्रक्रिया है और ऐसा करने वाला उसमें किस-किस अंतरंग और बहिरंग वातावरण में युक्त होता है इन सबका सूक्ष्म वर्णन करणानुयोग में किया है।

आत्मभाव—आत्मा में भाव एक है चैतन्यभाव। वह चैतन्यभाव निरन्तर परिणमनशील है। अब इसमें दो बातें आई—परम पारिणामिक भाव और परिणमनभाव। परिणमनभाव चार प्रकार के हैं—औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक। किंतु, स्वरूप तो एक है चैतन्य स्वरूप। वैसे पारिणामिक भाव तीन बताये गए हैं—जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व। इनमें भव्यत्व और अभव्यत्व ये दो अशुद्ध पारिणामिक हैं और जीवत्वभाव शुद्ध पारिणामिक है। इस जीवत्व भाव के परिणमन रूप ये चार भाव हैं।

औपशमिक आदि भावों का विवरण—औपशमिक कर्मों के उपशम का निमित्त पाकर होने वाला जो परिणमन है वह औपशमिक है। कर्मों के क्षय से होने वाला जो परिणाम है वह क्षायिक है और कर्म प्रकृतियों के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला जो भाव है वह क्षायोपशमिक है और कर्मोदय का निमित्त पाकर होने वाला आत्मा का भाव औदयिक है। इन ५ भावों में से श्रेयोमार्ग में बढ़ते हुए को श्रेय किस भाव का है? औदयिक भाव को तो आप बतायेंगे नहीं, वह तो विभाव रूप है। जो परिणामिक भाव है वह ध्रुव है, टस से मस नहीं होता, उससे कल्याण की क्या आशा करें और औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिक परिणाम यद्यपि निर्मल भाव को उत्पन्न करके होता है, किंतु किस भाव का आश्रय करके निर्मल भाव होता है ? तो आश्रय करने योग्य भाव तो है पारिणामिक जीवत्वस्वरूप ज्ञायक स्वभाव और उसका आश्रय करने का जो परिणमन है वह परिणमन या तो औपशमिकरूप पड़ेगा या क्षायिकरूप होगा या क्षायोपशमिक रूप होगा।

प्रयोजक का प्रयोजन—जैसे कोई व्यापारी आपसे बात करने आए और उसके प्रयोजन की कोई बात ऐसी है कि जो आपके लिए इष्ट बनी है तो आप यहां वहां की गप्पें उससे छेड़ेंगे। मौका ऐसा न आने देंगे कि वह अपनी बात रख सके। मगर वह किसी भी गप्पों में नहीं उलझता है, थोड़ा उलझकर किसी भी समय अपने आत्मा के प्रयोजन की बात कहता है। आपसे वह कुछ चाहता होगा सो रकम मांगने आया, आप यहाँ वहां की बातें करेंगे पर उसे नहीं सुहाती। वह हेर फेर कर अपने ही प्रयोजन में आता है। इसी प्रकार तत्त्व ज्ञानी जीव उससे कुछ भी करा

लें, चाहे वह रोटी बनाने बैठे, चाहे मंदिर में बैठे, चाहे स्वाध्याय में आर्ये, परिस्थितिवश कहीं कुछ करना पड़े, किंतु वह हेरफेर करके आता है अपने तत्त्व दृष्टि की ही ओर। किंतु जिनके कोई उद्देश्य नहीं है, जो यत्र तत्र विचरण ही करते हैं, उन्हें पता ही नहीं है।

अनुभवरहितों की विडम्बना—चार पंडित थे। एक ज्योतिषी, एक वैद्य, एक नैयायिक और एक वैयाकरण। चले घोड़ा लेकर। जंगल में टिक गए। ज्योतिषी से पूछा कि घोड़ा किस दिशा में छोड़ा जाय ? उसने मीन मेष तुला वृश्चिक करके दिशा बता दी। उसी दिशा में घोड़ा छोड़ दिया गया। वह भाग गया। अब रसोई बने, कौन बनाए ? जो कलाविहीन हो। तो मिले वैयाकरण साहब। ये किसी काम के नहीं, इन्हें रसोई सौंपो। दी गयी रसोई। वैद्यजी निर्दोष भाजी लाए और नैयायिक जी के तर्क शक्ति ज्यादा है तो कीमती मुख्य चीज क्या है घी। सो नैयायिक घी लेने गया। तो नैयायिक साहब घी लिए आ रहे थे तो रास्ते में तर्कणा हो गयी, एक शंका हो गयी कि—‘घृताधारं पात्रं वा पात्राधारं घृतम्।’ घी पात्र के आश्रित है या पात्र घी के आश्रित है। ऐसी शंका हो गयी। अब उसने गिलास से सारा घी उलट कर जांच करली। अब वैद्यजी निर्दोष भाजी लेने गए तो सोचा कि कौनसी भाजी निर्दोष हैं, सोचा कि पालक की भाजी सर्दी करती है, भिन्डी बादी होती है, सो उन्हें नीम की पत्ती निर्दोष जंची। सो ले आये नीम की पत्ती। वैयाकरण साहब को दे दी। वैयाकरण साहब ने भाजी को हसिया से काटकर पतेली में डाल दिया। अब जब पतेली में नीम की पत्ती की भाजी चुरती है सो उससे भलभल भलभल की आवाज निकल रही थी। वैयाकरण साहब ने सोचा कि यह भल-भल शब्द तो आज तक कभी न सुना, न पढ़ा, सो यह पतेली झूठ बोलती है। तो झूठ बोलने वाले के मुँह में धूल उठाकर झोंक देना चाहिये, तो उसने भी झोंक दिया धूल उठाकर। अब सब क्या खायेंगे बतावो ? साग में नीम की पत्ती, उसमें भी झूठ बोलने से मिट्टी झोंक दी गयी। तो ऐसी ही प्रवृत्तियां हैं मोही जीवों की, अज्ञानी जीवों की।

सर्वसमृद्धि की मूल ज्ञानकला—एक कला यदि है तो सभ्यता भी आ जाती है। वह कला है ज्ञानकला। दूसरों को क्षमा करने का माद्दा आता है तो सभ्यता ही तो बढ़ी। नम्रता का व्यवहार आ जाता है तो सभ्यता ही बढ़ी। जिसको सर्वविशुद्ध ज्ञान के अनुभव की कला जगी है उसके व्यवहार में भी सभ्यता आ जाती है। छल कपट काहे को करते हैं, लोभ काहे को करते हैं। है समागम तो करो उपयोग। जब न रहेगा तो देखा जायेगा। सर्वविशुद्ध ज्ञान की कला वाला पुरुष

लोक में भी निराकुल रहता और अपने अन्तर में भी निराकुल रहता है। उसी सर्वविशुद्ध ज्ञान का यह स्वरूप कहा गया है।

परमार्थ शरण गहने का कर्तव्य—हे मुमुक्षु जनों ! जरा अपने आप पर दया करके विचारों तो सही कि हमें परमार्थ शरण क्या है ? आखिर हमें चाहिये तो शान्ति ही या अशान्ति चाहिये बतावो ? शान्ति ही चाहिये। तो क्या किसी परपदार्थ का आश्रय करके हम शान्ति पा सकते हैं ? अरे पर तो पर ही है और यह सब पर विनाशीक है अथवा इसका वियोग नियम से होगा तथा पर के आश्रय करके जो परिणाम बनता है वह उठा उठा, लिया दिया, अलल टप्प आकुलतारूप बनना है। कुछ तो भोगकर जान भी चुके होंगे और बचीखुची असारता की बात युक्ति से समझ लीजिये। बाहर कहीं कुछ आश्रय करने योग्य नहीं है। अब अपने अन्तर में आवो और अनादि अनन्त नित्य अन्तःप्रकाशमान् अहेतु सहज निज ज्ञानानन्दस्वरूप कारणसमयसार का दर्शन ज्ञान आचरणरूप अभेद शरण ग्रहण करो।

॥समयसार प्रवचन त्रयोदशतम भाग समाप्त॥